दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no.
Book no.
Reg no.

मन्थन

मनुष्य की मननशीलता जीवन और प्रकृति के अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने में सदा लगी रहती है। इस तरह आदमी सोचता रहता है और सत्य की ओर बढ़ता रहता है। चिन्तन का अर्थ है सत्य की उपलब्धि का सतत बौद्धिक प्रयत्न। किन्तु बुद्धि से भी बढ़कर है, हृदय जिसके मन्थन से अमृत निकलता है, जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इस 'मन्थन' में भी मनुष्यता को सत्य की ओर ले जाने का एक सहज और मौलिक कदम है।

अर्पण

मन्थन

[तात्त्विक निबन्ध]

जैनेन्द्र कुमार

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज दिल्ली।

अपनी बात

सच मैं सोच में पड़ गया हूँ कि आपसे क्या कहूँ। सोच से ज्यादा अचरज है। क्योंकि यह बात कि कुछ अपने बारे में कहने के लिए मैं इस वक्त यहाँ हूँ, यकीन के लायक नहीं मालूम होती। असल में अपने होने, उस पर भी लेखक होने पर मुझे आज विस्मय के सिवा कुछ नहीं हो सकता। बेशक कुछ किताबें हैं जिन पर मेरा नाम है। वे लिखी भी मुझसे गई हैं। यह अनहोना ही हुआ है और अब तक इसके अचम्भे से मैं उबर नहीं सका हूँ। सूरदास के एक पद में उस कृपा का बखान है जिससे अन्धे को दीख आता है, बहरा सुन लेता है, गूँगा बोल उठता है और रंक राव बनता है। भगवान् की कृपा से सब सम्भव है।

कुछ ऐसी ही बात हुई होगी, नहीं तो मुझे सपना भी न था कि मैं लिख सकूँगा। पढ़ाई उसके लिए काफी तो नहीं थी, और भी कुछ तैयारी नहीं हुई। उमर वह हो गई थी जब आदमी को कुछ करना-धरना चाहिए। तेईसवें बरस में आ गया था। पढ़ना सोलहवें वर्ष में ही छूट गया था। उसके बाद के छः-सात बरसों का हिसाब नहीं है। वे दिन भटकने में ही बीते। आखिर भटकना थमा। ख्याल हुआ, कुछ करना चाहिए। पर क्या करूँ? कोई ऐसा था नहीं जो मुझे उँगली पकड़कर राह लगाये। एक अकेली माँ थी। वह आस-भरी आँखों से

मुझे देख लेने के सिवा क्या कर सकती थी। मैं उनका अकेला लड़का था, और वही मैं निकम्मा और बेकार था। माँ की उन आँखों में स्नेह तो देखता था, पर जैसे अपने से निराशा भी देखता था। उस दृष्टि का धिक्कार मुझे चोट देता रहता। आखिर कुछ पैसों का जुगाड़ करके कलकत्ते का मैंने टिकट कटा लिया। सोचा, इतना बड़ा शहर है, कुछ-न-कुछ काम मिल ही जायगा। निकम्मा रहकर माँ के स्नेह का सामना न होता था। ऐसा ही होगा तो चलो उनकी आँखों से दूर तो रहूँगा। पर नहीं, काम कुछ हाथ आ ही जायगा, और माँ को खबर दूँगा कि बेटा काम से लग गया है। बात यह भी थी कि कलकत्ते में कुछ सहारे का भरोसा था। उस सहारे की जगह पहुँचा तो बन्धु चौंककर बोले—"अरे, तुम कब आये? न खबर, न कुछ, क्या बात है?"

मैंने अपनी स्थिति बतलाई और कहा कि आपने ही जगह के बारे में लिखा था।

"यह खूब!" हितैषी बोले, "भई, बड़े अजब लड़के हो तुम! लिखा था चार महीने पहले। आप समझते हैं कि अब आपके लिए वह जगह खाली रखी होगी!"

मैंने देखा कि बात ठीक है। मैं रुआसा हो आया। इस मुँह मैं वापिस कैसे जा सकता था। मेरी हालत देख हितैषी बोले, "जगह तो वह भर गई है, और जब मैंने लिखा था तब परवाह तुमने क्यों नहीं की?"

मुझे खुद नहीं मालूम कि मैंने परवाह क्यों नहीं की। हालत मेरी और दयनीय हो आई। वह हालत देखकर कृपालु बुजुर्ग ने कहा, "अफसोस से अब क्या होता है,—चलो और जगह तलाश करेंगे। जवान हो, निराश नहीं हुआ करते।"

मैंने कहा, "बीस की हो, पच्चीस की हो, जो भी जगह हो मैं ले लूँगा। वापिस लेकिन किसी तरह नहीं जा सकूँगा।"

उन सज्जन ने काफी यत्न किया। पर किस्मत ही उल्टी हो तो

कोई क्या करे। आठ रोज कोशिश में लगाये गए, पर बीस की भी कोई नौकरी हाथ नहीं आई। जानता था कि जहाँ टिक गया हूँ वहाँ भारी हूँ। पास पैसे भी कम हो गए थे। बस ठीक इतना बचा था कि टिकट आ जाय। इन आठ रोज उस महानगरी की काफी खाक छानी। बड़ा कामिन्दा शहर है। बस लोग यहाँ से वहाँ लपके जा रहे हैं। सबको काम है और सब झपट रहे हैं। मैं भौंचक यह देखता था। समझ ही न पाता था कि क्या है जो इन सबको भगाये जा रहा है। क्या व्यस्तता है जो उन्हें लगाये रख रही है।

खैर, मैं बैरंग वापिस आ गया। माँ ने प्यार से लिया। वह प्यार मुझे अन्दर तक काटता चला गया। मुझ-सा नालायक कौन होगा। उसी बदनसीब को यह प्यार क्यों मिल रहा है। लगता था कि कोई कष्ट नहीं जो मुझसे उन्हें न मिला हो। कपूत के और क्या लच्छन होते हैं। पर पूत कपूत हो, माँ तो माँ ही होती है।

ऐसे दिन बीतते गए और मेरे सामने अँधेरा बढ़ता गया। दिल्ली कौन छोटा शहर है। यह सन् सन्ताइस की दिल्ली की बात है। सन् बावन की दिल्ली की तो पूछिए क्या, देखते-देखते वह तो जैसे लन्दन बनी जा रही है। उसकी व्यस्तता का दबाव मुझ पर कम न रहता था। एक तरफ माँ को देखता जो अपने हाथों से खाना बनाकर बैठी मेरी राह देखती रहा करती थी। दूसरे अपनी तरफ देखता जिसे कुछ शऊर न था और जो हर तरह एक अनावश्यक बोझ था। ऐसे मैं घर से दूर-ही-दूर रहता था कि आत्मग्लानि का रस तो पा सकूँ, नहीं तो सब नीरस लगता था और मैं डूबता जाता था।

नहीं, आत्मघात सम्भव नहीं हो सका। उसके लिए भी शायद योग्यता चाहिए। जो सम्भव हुआ वह यह कि कुछ पीले कागज काले किये। कहना चाहिए कि ऐसे असम्भव ही सम्भव हो आया। फिर जिस इबारत से कागज काले हुए थे वह पीछे एक संयोग से छापे में छपी मेरे ही देखने में आई। वह दिन है कि आज दिन है, मैं लेखक

कहाता हूँ और अब तक जिन्दा हूँ। सच मानिए कि मेरा दोष उसमें नहीं है, होनहार का तमाशा ही नजर आता है। इस घटना से मेरे मन में हो गया है कि आदमी नहीं करता, भगवान् ही करता है।

यह बात कह तो गया, पर कहते झेंप होती है। क्योंकि समझदारों की बात यह नहीं जान पड़ती। इसका सबूत कोई नहीं और शायद हार में और निराशा में ऐसा कहा जाता है, "वह हो सकता है", और सहसा भगवान का नाम लेने को मैं राजी नहीं हो पाता। पर आज के लिए कुछ बताया ही नहीं गया कि मुझे आपसे क्या कहना है। कहा गया कि अपनी बात कहूँ। मेरी अपनी बात कोई दूसरी नहीं, यही है कि मेरी बात कोई नहीं है।

सन् इक्कीस और तीस के दिन भारत में अमिट रहेंगे। राष्ट्र के प्राणों में वैसा ज्वार भला कब-कब आया होगा! सन् तीस में जेल जाना हुआ और मैंने अपने को पंजाब के गुजरात स्पेशल जेल में पाया। वहीं दिल्ली, पंजाब और सरहद के चुने-चुने लोग जमा थे। इससे वातावरण जगा रहता था और खूब सरगर्मी रहती थी। पर मेरी पहुँच कम थी। इससे मैं अपने को कुछ अकेला पाता था। वहाँ पहली बार किताब हाथ लगी—गीता। नाम उसका सुना था, तब तक उसको देखा नहीं था। गीता की वहाँ क्लास थी और जेल में अक्सर उसकी चर्चा रहा करती थी। तिलक, अरविन्द और गाँधी के भाष्य लोग पढ़ते और उद्धृत करते थे। मैं उनमें अधिक रस न ले पाता था। थोड़ा ही कुछ समझ आता, ज्यादा समझ ही न आता था और इस तरह उदास रहता था। लगता था, जैसे शंकाएँ भर गई हैं और समाधान कहीं नहीं है।

जेल के बीच में गोलाकार एक खुला उद्यान था जिसके चारों तरफ हम लोग अक्सर घूमा करते थे। उन्हीं दिनों की एक शाम की बात है। हल्की सर्दी थी। शाम गहरी हो चली थी। तारे दीख आए थे। रात अँधेरी थी, लेकिन तारे आसमान पर ढेर-के-ढेर भर आए

कि चाँद का न होना पता न चला। चाँदनी तो थी, फिर चाँद का न होना भला ही लगा। देखा कि अब इक्का-दुक्का ही घूमनेवाले रह गए हैं। फिर वह भी न रहे। मैं अकेला चक्कर पर चक्कर घूमे जा रहा था, घूमे जा रहा था। आसमान पर वे अनगिन नन्हीं-नन्हीं खिड़कियाँ अजब जगातीं थीं। कभी वे छिप जातीं, कभी झुककर आतीं। मुझे समय का भान न था। जैसे कुछ और होने का भी धीरे-धीरे भान न रहा। हल्की ठण्ड थी और हल्की-हल्की बयार। होते-होते सन्नाटा हो चला। जैसे बस तारों-भरी रात ही थी और उसके नीचे चाँदनी में खिलता अँधेरा, और होले होकर बहती हुई हवा। बाकी सब सो गया था! जैसे सोच हुआ अनहुआ हो गया हो।

पाँव मेरे चले जा रहे थे और समय निकलता जा रहा था। न मुझे चलते पाँवों का पता था, न जाती घड़ियों का। क्या मैं तब अपने में उलझा था? घूमते-घूमते घण्टों की आवाज में दस सुनाई दिया, फिर ग्यारह सुनाई दिया। तारे आसमान में और भर आए थे। जैसे वे उजाले भी ज्यादा दे रहे हों।......एक-एक उनमें दुनिया है। कई सूरज हैं और सूरज से बड़े हैं। जितने दीखते हैं असंख्य हैं। और असंख्य ही अभी नहीं दीखते, क्योंकि रोशनी उनकी बराबर चल रही है, पर हम तक अभी पहुँची नहीं है। सभी ये तारे दृश्य और अदृश्य, स्वतन्त्र जगत् हैं और बड़े-बड़े जंगल हैं। और वे बराबर जागते हैं, और घूमते हैं, और वे अनन्त हैं, अनन्तकाल से हैं, अनन्तकाल तक हैं। वे नन्हीं-नन्हीं खिड़कियों से तारे!

ऊपर उन्हें देखता, फिर नीचे अपने को देखता। हठात् अपना होना न-होना-सा लगता। इस न-होने में जैसे मैं डूबने लगा। देखते-देखते मेरे प्रश्न खो गए, शंकाएँ बिखर गईं। जाने किससे जी भर आया। भरके मैं हल्का हो गया। मेरे पैर अब चल नहीं रहे थिर रहे थे। मैं धरती पर न था जैसे एक साथ आसमान में भी था। उस समय बारह बजे। घण्टा एक-एक कर बजता गया। यह दो यामों का संधि-

काल था। जैसे चेतावनी हो। बस, चुपचाप चलता हुआ मैं अपनी 'सेल' में आया। वहाँ ढकी हुई मेरी थाली रखी थी। पर उधर ध्यान न दे सका। बराबर से नोटबुक खींची, उस पर लिखा, 'मैं नहीं हूँ, वह है।' लिखा और लिखकर बस सो गया।

सो चाहे गया, और सो अब भी रहा हूँ, पर उस रात्रि का आविष्कार कि मैं नहीं हूँ मुझसे एकदम खो नहीं पाया है। यद्यपि धूल उस पर पड़ जाती है और गर्व में मैं कभी हो भी उठता हूँ, पर आपसे कहता हूँ कि आप मानें कि मैं नहीं हूँ।

—जैनेन्द्रकुमार

'अपनी बात' एक दूसरे अवसर पर लिखी गई थी। किन्तु इससे पाठकों को लेखक के मौलिक दृष्टिकोण की मूल प्रेरणा के समझने में सहायता मिलेगी, इसलिए मन्थन की भूमिका के रूप में इसको यहाँ दिया गया है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

मानव का सत्य

हम जानते हैं कि चीज़ें बदला करती हैं, ज़िन्दगी में हम बदल गये हैं और जिन चीजों को हम जैसा जाना करते थे, वे आज वैसी ही नहीं हैं। देखते-देखते एक लहलहाता गाँव उजड़ गया है और, जहाँ बंजर धरती थी, वहाँ शहर बन गया है। जो बच्चे थे, आज बड़े हो गये हैं और जिम्मेदार आदमी समझे जाते हैं। कुछ उनमें अब शेष भी नहीं हैं, वे काल-कवलित हो गए हैं। कुछ उनमें और हैं जो चलते-चलते मौत के किनारे पहुँच रहे हैं। सारांश, दुनिया चलती रहती है और चीज़ें बदलती रहती हैं।

कुछ पदार्थ हमें अचल प्रतीत होते हैं। धरती है, मकान है, पहाड़ हैं,—ये चीज़ें स्थिर जान पड़ती है। इनमें परिवर्तन नहीं दीखता। पर ऐसी बात है नहीं। अचल वे भी नहीं हैं। साधारणतः हमें उनमें होता रहने वाला परिवर्तन दीखता नहीं, पर इतिहास के मार्ग से और अन्यान्य विज्ञानों द्वारा हम जानते हैं कि वे जैसे हैं, वैसे कभी नहीं थे। गति अस्तित्व की शर्त है, और जो है वह परिवर्तनीय है। परिवर्तनीयता होने की परिभाषा है।

वस्तुओं की आयु भिन्न है और उनमें होने वाले परिवर्तनों की गति का वेग भी भिन्न है। हर एक अस्तित्व में ये दो क्रियाएँ निरन्तर रहती हैं—कुछ उसमें से मिटता रहता है, कुछ और नया होता रहता

है। उत्पत्ति और समाप्ति, ये दो पहलू प्रत्येक अवस्था में हैं। पुरातन व्यर्थ जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है, नूतन उसकी जगह लेता है। इसी भाँति परिवर्तन सम्पन्न होता है।

अपने चारों ओर घटित होती हुई घटनाओं में एकाएक हमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती। शहर क्यों खड़ा हो गया और गाँव क्यों उजड़ गया? पिता कहाँ है और उसकी जगह अब पुत्र क्यों निश्चिन्तता-पूर्वक तना बैठा है? हमारे चारों ओर की हालतें क्यों बदल गई हैं? किस भाँति एक मामूली व्यापारी बढ़कर बड़ा आदमी हो गया है और क्यों कल का बड़ा आदमी पूछा भी नहीं जाता? चारों ओर आँख खोलकर देखने से मन में इसी भाँति के प्रश्न उठते हैं और वे प्रश्न बहुतेरा उत्तर देने पर भी अन्त तक कुछ प्रश्न से ही बने रहते हैं।

लेकिन यदि हम वर्तमान को तटस्थ होकर देख सकें, जो कि पूर्ण-तया सम्भव नहीं है, तो हमें प्रतीत होगा कि कोई कटी हुई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जो था उसी में से यह वर्तमान बना है। यह मनमाना नहीं है। मनमाना हो भी नहीं सकता। इसी भाँति, जो भविष्य में होगा, वह भी आज के वर्तमान से निरा असम्बद्ध नहीं है। आज ही को कल होना है।

हम देख सकेंगे कि परिवर्तनों में क्रम है और काल की प्रगति में जो आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, वे निरे असंगत और अहेतुक नहीं हैं। उनमें संगति और हेतु है।

किन्तु घटना का औचित्य उस घटना में बन्द नहीं मिलेगा। घटना को वृत्त मानकर उसी के भीतर हेतु खोजने से नहीं चलेगा। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन को तोड़कर अपने में ही उसे समझना चाहे तो जीवन व्यर्थ-सा और अलक्ष्य-सा मालूम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि जब व्यक्ति अपनी ज़िन्दगी के साठ-सत्तर, सौ वर्ष जीकर समाप्त होता है, तब भी उसका परिवार चलता रहता है। परिवार मिट जाते हैं और समाज बना रहता है। इसी तरह, एक राष्ट्र के जीवन में

समाज अपना जीवन-दान कर जाता है। सहस्र-सहस्र वर्षों के इस प्रकार के संयुक्त जीवन की साधना के परिणामस्वरूप संस्कृतियाँ बनती हैं। मनुष्य का ज्ञान और सभ्यता और संस्कृति इसी भाँति उन्नत और पुष्ट होते जाते हैं।

हम देखें कि समस्त परिवर्तनों में नितान्त असंगति ही नहीं है, प्रत्युत उनमें एक विकास-धारा है। चीज़ें बनती हैं और मिटती हैं, पर वे अनर्थक भाव से नहीं बिगड़ती-बनतीं। पिता यदि पुत्र को जन्म देकर स्वयं मौत की ओर बढ़ जाता है, तो यह भी एक नियम के अनुसार है। वह यद्यपि यह अन्ध भाव से कर सकता है, पर वह विधान निरर्थक नहीं है, नियमानुकूल है। मनुष्य चाहे उसमें अपनी तृप्ति माने अथवा उसे अपने लिए शाप समझे, पर वह अनिवार्य है। मानव-जीवन का अर्थ उसके-अपने ही भीतर समाप्त नहीं है।

एक अनिर्दिष्ट निर्देश से मानव जीता, चलता है और मरता है। वह अज्ञान से अथवा ज्ञान-पूर्वक अपने जीवन के चक्कर को काटता है और अपने जीवन-दान से बृहत् चक्र के संचालन में सहयोगी बनता है।

हम परिवर्तन करते हैं और परिवर्तन हम पर होते रहते हैं। उसके साथ ही हम जान लें कि वह परिवर्तन-मात्र परिवर्तन नहीं है, वह उन्नति और विकास है। जानें कि सब-कुछ के द्वारा और हमारे द्वारा भी युग-युग के भीतर एक विकास अपने को सम्पन्न कर रहा है। हम उसके साधन हैं और उसके भाग हैं।—हम और कुछ नहीं हो सकते। विकास न रुकेगा। भविष्य आवेगा ही। अतीत जो था, था, और भविष्य भी जो होगा, वही होगा। इस दृष्टि से वर्तमान की भी एक निश्चित रूप-रेखा है। इसी महाचक्र के भीतर हम हैं। हम गिनती के वर्षों के लिए हैं और परिणाम में साढ़े तीन हाथ से ज्यादा नहीं हैं। हम जब से आरम्भ हुए हैं, उसकी जन्म-तिथि है; जिस रोज़ हम न रहेंगे, वह भी एक तारीख होगी। हमारा अस्तित्व उन ओर-छोर पर बैठी तारीखों के बीच में नपा-नपाया है। किन्तु जन्म की तारीख़-से

पहले भी दुनिया थी और सब-कुछ था। मृत्यु की तिथि के बाद भी दुनिया रहेगी और सब-कुछ रहेगा। अपने-आप ही आप में जब-जब हम देखेंगे, तब-तब पायेंगे कि हमारी बहुत ही परिमित सत्ता है और बहुत ही थोड़ा वश है।

लेकिन इसके साथ ही अमिट-रूप में हम जानते हैं कि जो है, उसका नाश नहीं होता। सब परिवर्तनों के मध्य में कुछ ध्रुव भी है जिसमें परिवर्तन है, वह सदा है सदा था और सदा रहेगा। वह शाश्वत है और परिवर्तनों के द्वारा वह शाश्वत ही अपने को सम्पन्न करता है। हम जानते हैं कि असंख्य वर्ष पहले जो था, वह भी हम से असम्बद्ध नहीं है। हम आज अपने भीतर इतिहास के अतीत के साथ भी अपना नाता अनुभव करते हैं। ऐतिहासिक पुरुषों की महत्ता हमें महत्ता की ओर प्रेरित करती है। उस अतीत के ज्ञान में हमें रस मालूम होता है। तब का इतिहास, मालूम होता है, अब भी हमारी रगों में सो रहा है और वह जग भी सकता है। सदियाँ हमें काल-क्षण-सी मालूम होती हैं और हम जानते हैं कि हम परिमित प्राणी हैं। जान पड़ता है, इतिहास के भीतर भी हमीं हैं। हमीं वह हैं। आदिम मनुष्य ने जो भोगा और किया, उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के दीर्घकाल में भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी वह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना आज हमारे जीवन में बीज-रूप से व्याप्त है। उसी के फल-स्वरूप हम आज हैं। नितान्त एकाकी स्वतन्त्र हम अपने-आपमें क्या हैं?

इस दृष्टि से चाहे हम परिमित हों, फिर भी अनन्त हैं। हम काल से भी नहीं बँधे हैं और न प्रान्त से ही। शत-सहस्र शताब्दियाँ हम में मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बड़ा है।

क्या हम भावी बदल सकते हैं? क्या हम अपने भी मालिक हैं? क्या हम अपने-आप में भाग्य-बद्ध भी नहीं हैं? क्या हमको माध्यम

बनाकर कुछ और महत्व नहीं व्यक्त हो रहा है जो हमसे अतीत है ? हमारा समस्त यत्न अन्ततः किस मूल्य का हो सकता है ? अनन्तकाल और अगाध विस्तार के इस ब्रह्माण्ड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत है ?

ऊपर की बात कही जा सकती है और उसका कोई खण्डन भी नहीं हो सकता। वह सत्य ही है। उस महासत्य के तले हमें विनीत ही बन जाना चाहिए। जब वह है, तब मैं कहाँ ? तब अहंकार कैसा ? जब हम (अपने आपके) सचमुच कुछ भी नहीं हैं, तब और किसको क्षुद्र मानें ? नीच किसको मानें ? तुच्छ किसको मानें ? हम उस महा-सत्य की अनुभूति के तले अपने को शून्य ही मान रखने का तो अभ्यास कर सकते हैं।

और बस। अहंकार से छुट्टी पाने से आगे हम उस महासत्ता के बहाने अपने में निराशा नहीं ला सकते, हम निराशा में प्रमाद-ग्रस्त नहीं बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्य-वादी नहीं बन सकते। यह भी एक प्रकार का अहंकार है। प्रमाद स्वार्थ है, उच्छृङ्खलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगें कि हमारा अहंकार एक प्रकार से हमारी जड़ता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशा में भी पड़ सकने के लिए खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, वह एक व्यसन है, नशा है। नशीली चीज़ कड़वी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते हैं। यही बात निराशा में है। निराशा सुख-प्रद नहीं है। फिरभी लोग हैं जो उसके दुःख की चुस्की लेते रहने में कुछ सुख की झोंक का अनुभव करते हैं।

जिसने इस महासत्य को पकड़ा कि मैं नहीं हूँ, मैं केवल अव्यक्त के व्यक्तीकरण के लिए हूँ, वह भाग्य के हाथ में अपने को छोड़कर भी निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बात को नहीं भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्त का वह अंग है। वह (साधारण अर्थों में) सुख की खोज नहीं करता, सत्य की खोज करता है। उसे वास्तव के साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नता की साधना में, इस अत्यन्त

वास्तव के साथ एकता पाने के रास्ते में जो कुछ भी विपत्ति उस पर आवे, जो खतरा, जो दुःख उसे उठाना पड़े, वह सब हर्ष से स्वीकार करता है। इसलिए, उसका सुख समस्तता के साथ अविरोधी सुख होता है। इस जगत् में विलास, दूसरे की पीड़ा पर परिपुष्ट होता हुआ देख पड़ता है। वैसा विलासमय सुख निरहंकारी मानव के लिए अत्यन्त त्याज्य बनता है।

हमने देखा कि चीज़ें बदलती हैं; देखा कि वे प्राकृतिक विकास-क्रम के अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्ति की अथवा घटना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। और भी देखा कि किसी व्यक्ति के लिए अपने ही ऊपर केन्द्रित होने और अपने ही लिए रहने का अवकाश नहीं है। (अपने माने हुए) सुख से चिपटने और दुख से दूर भागने की छुट्टी भी व्यक्ति को नहीं है। विकास जब अपने-आपको चरितार्थ कर रहा है तब व्यक्ति के लिए बीच में अपने सुख-दुख पैदा कर लेना उचित नहीं है। जीवन की स्वीकृति व्यक्ति का धर्म है, यों चाहे तो क्लेश उपस्थित करके वह अपने को मार भी सकता है।

उसे हमने देखा। अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपने को संवेदना-हीन बनाने की कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है? अपनी इन्द्रियों को क्या मार लेना होगा? अपने अन्दर की सुन्दर और असुन्दर, ग्राह्य और घृण्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब विवेक-भावना क्या व्यर्थ है? अनादि काल से हमारे भीतर एक वस्तु को हर्ष से अपनाने और दूसरी को दृढ़ता से वर्जित रखने की जो अन्तस्थ सहज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है? क्या सबसे मुँह मोड़ कर काय-क्लेश में 'स्टाइक रेज़िग्नेशन' (Stoic Resignation) में बन्द हो जाना होगा। क्या संवेदनहीन, प्रभावहीन बनने की ही साधना व्यक्ति के लिए सिद्ध होगी?

और ऐसा हुआ है। लोगों ने अपने को कुचलने में सिद्धि मानी है। उन्होंने अपने से इन्कार किया है, दुनिया से इन्कार किया है और

एक प्रकार से 'न' कार की साधना की है। उन्होंने 'मैं अपने को कुचल दूँगा' ऐसा संकल्प ठानकर कुचलने पर इतना जोर दिया है कि वे भूल गये हैं कि इसमें 'मैं' पर भी आवश्यक रूप में जोर पड़ता है। 'मैं' कुचलकर ही रहूँगा, यह ठान-ठानकर कुचलने में जो जोर लगाता है, उसका वह जोर असल में 'अहं' के सिंचन में जाता और वहीं से आता है। इस प्रकार, तपस्या द्वारा अपने को कुचलने में आग्रही होकर भी उलटे अपने सूक्ष्म अहं को अर्थात् 'मैं' को, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनिया से मुँह मोड़कर उस दुनिया की उपेक्षा और विमुखता पर अवलम्बित है वह अन्त में मूलतः अहं सेवन ही का एक रूप है।

जो विराट्, जो महामहिम, सब घटनाओं में घटित हो रहा है, उसकी ओर से विमुखता धारण करने से आत्मैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीज़ें बदल रही हैं और उनकी ओर से निस्संवेदन, उनकी ओर से नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहने की साधना आरम्भ से ही निष्फल है। व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण नहीं है, तब सम्पूर्ण का प्रभाव उस पर क्यों न होगा? प्रभाव न होने देने का हठ रखना अपने को अपूर्ण रखने का हठ करने-जैसा है, जोकि असम्भव है। आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, उसे पूर्णता की ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिए जगद्गति से उपेक्षा-शील नहीं हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपने को स्वीकार करके उस जगद्गति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी भाँति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधर से निगाह हटाकर केवल अपने ऊपर उसे केन्द्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहने में भी सिद्धि नहीं है।

तब यही मार्ग है (लाचारी का नहीं, मोक्ष का) कि हम घटनाओं को केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हें स्वयं घटित करें। क्या वास्तव के साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नहीं है?

वह वास्तव ही घटनाओं में घटित बनकर व्यक्त हो रहा है। तब हमारा अपना व्यक्तीकरण भी घटनाओं में ही होगा। हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुजारा नहीं, यह मानकर भी नहीं कि हम उसके स्रष्टा हैं। परिवर्तन का स्वीकार-भर करने के लिए हम नहीं हैं। उन परिवर्तनों को सम्पन्न करने के लिए भी हम हैं। विकास हो और वह विकास हमें अपने हाथ में लेकर विकसित कर जाय, इसकी प्रतीक्षा करते नहीं बैठना होगा। हम स्वयं विकास में प्रवृत्त होंगे और उसे सिद्ध करेंगे। हम स्रष्टा की प्रकृति के समभागी हैं। हम केवल उपादान, उपकरण ही तो नहीं हैं। हम कर्ता भी हैं। चीज़ें बदलती हैं वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है। मनुष्य का सत्य यह भी है कि हम चीज़ों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे। मनुष्य परिवर्तनीय है, इसीलिए तो कि वह परिवर्तनकारी है। मनुष्य विकासशील है, क्योंकि वह विकासशाली है। वह कर्मवेष्टित क्यों है? क्योंकि वह कर्म का स्रष्टा भी है।

निरा अ-बुद्धिवाद

सुना जाता है कि शुतुरमुर्ग, जो अफ्रीका के रेतीले मैदानों में होता है, विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रु की टोह पाता है तो और कुछ करता नहीं, रेत में मुँह दुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भाव से जाकर उसका काम तमाम कर देता है। वह जानवर शुतुरमुर्ग इस भाँति शान्तिपूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरने की पद्धति से सहमत नहीं हैं। उसका मरना हमारे मन से कोई गलत बात नहीं है। उसकी बेवकूफी की सजा ही समझिए जो मौत के रूप में उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शुतुरमुर्ग मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो; लेकिन इतना कहकर बात को हम टालें नहीं। उसे कह देकर आदमी शायद स्वयं अपने को कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमें इसमें सन्देह है कि दूसरे को मूर्ख कहने के आधार पर खुद बुद्धिमान् बनने का ढंग ठीक है। किस पर वह शुतुरमुर्ग क्यों मूर्ख है? और हम क्यों नहीं हैं? और मूर्ख होने में सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बातें सोचने की हैं।

घर में एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती

या बक्स या कुर्सी के पीछे होकर मुँह ढककर चिल्लाएगी—'अम्माँ! मुन्नी को ढूँढ़ो' अगर अम्मा एक बार में ध्यान नहीं देगी तो मुन्नी उससे उलझ पड़ेगी। कहेगी—'अम्माँ, अरी अम्माँ, देख।' और जब अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होगी तब सामने दूर जाकर मुँह की ओट करके कहेगी—'मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है, मुन्नी को ढूँढ़ो।

तब मुन्नी की अम्माँ भी सारे कमरे में इधर-उधर, कभी कलमदान के नीचे, कभी होल्डर के निब में, ग्लास में या सुई के नकुए में, यहाँ वहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नी को ढूँढ़ती है, कहती जाती है—'अरे मुन्नी कहाँ है?' कपड़े को उलट-पलटकर—'अरे कहाँ है? मुन्नी, ओ मुन्नी!'

और मुन्नी सामने खड़ी-खड़ी चोरी-चोरी अम्माँ के यत्नों की विफलता देखकर और उसमें रस लेकर मुँह को दोनों हाथों से ढककर कहती है—'मुन्नी नहीं है अम्माँ। मुन्नी नहीं है। ढूँढ़ो।'

अम्माँ बहुतेरा ढूँढ़ती है, पर सामने खड़ी हुई मुन्नी नहीं मिलती। ओह! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है। मिलने के बाद ही दो कदम भागकर फिर मुँह दुबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—'अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो।'

मुन्नी को इस खेल में बड़ा आनन्द आता है। हमें भी आनन्द आता है। हम कहते हैं—'मुन्नी है।' और वह भागकर किसी वस्तु की ओट लेकर कहती है—'मुन्नी नहीं है।' अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मन में इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्तापूर्वक समझावें। कहें, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखने पर औरों की अथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है, यथार्थता समझ, लड़की, और मूर्खता छोड़। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करने के लिए कभी अपने को मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेल को हमने प्रसन्नतापूर्वक खेल

लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता गलत चीज है और हमें मुन्नी का उससे उद्धार करना चाहिए।

हमें सन्देह है कि मुन्नी को यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायँ तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ता को मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खता को स्पष्ट रूप में तर्क-शुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी ग़लत है? जब वह कहती है कि 'वह नहीं है' तब भी वह ग़लत कहाँ है, क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि 'वह नहीं है।'

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणा से भिन्न क्या वस्तु है? भिन्न होकर वह है भी या नहीं?—यह अभी निर्णय होने में नहीं आया। कभी न आयेगा। अकाट्य-रूप में हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सत्य मानव के लिए चिर-अप्राप्य, अतः चिर-शोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्य से बाहर भी व्याप्त नहीं है? जो बाहर भी है वह मनुष्य के भीतर ही कैसे समायेगा? उस सर्वव्यापी सत्य की मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयं में सत्य नहीं हैं। अपने सब ज्ञान के मूल में 'हम' हैं। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ-न-हुआ एक-सा है। हर सत्य को अपनी सत्ता के लिए हम पर इस निमित्त निर्भर रहना होगा कि हम उसे जानें। यह बात साफ है। इसको समझने से कोई इन्कार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बात की मान्यता से बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हम से अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नहीं जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शुतुर-मुर्ग को ग़लत और अपने को ठीक कहें।

शुतुरमुर्ग को तो शायद हम ठीक न कह सकेंगे। उसको ठीक कहने के लिए हमें अपने को इन्कार करना होगा। हम तो दोनों को देखते हैं

न—शुतुरमुर्ग को भी, उसके शत्रु को भी—इसलिए रेत में सिर दबा-कर शत्रु से बचने की शुतुरमुर्ग की चेष्टा को हम सही कैसे कह सकते हैं? और शुतुरमुर्ग के ग़लत होने का प्रमाण उसी के हक में यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इसलिए यह तो असम्भव है कि शुतुरमुर्ग ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी गलती शुतुरमुर्ग से इतनी ही भिन्न हो, कि हम शुतुरमुर्ग न होकर आदमी हैं। अन्यथा कैसे कहें, कि यथार्थ में हम दोनों में बुद्धि की अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि शुतुरमुर्ग बुद्धि से शुतुरमुर्ग है, लेकिन बात-चीत में आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नहीं दीखता है, वह इसीलिए तो नहीं दीखता है कि नहीं है'—शुतुरमुर्ग के ज्ञान का तत्व यह है। हम मानव उसे थोथे अज्ञेयवादी, अदृष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होने में क्या प्रयोजन? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है। और शुतुरमुर्ग के निकट जो दृश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानव-रूपी शुतुरमुर्ग का जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—'जो अनिष्ट है, उसे मिटाने का सीधा उपाय है उसे न देखना। अनिष्ट पर इसी भाँति विजय होगी। अनिष्ट यों ही असत् होगा। इसलिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मींच लो। भय की आशंका और सन्देह की शंका से इस भाँति मुक्ति प्राप्ति होगी।'

अब, क्या मानव-बुद्धि-द्वारा निर्मित तर्क-सम्मत नीति भी लग-भग इसी प्रकार की नहीं है?

उस नीति पर चलने से शुतुरमुर्ग शत्रु से नहीं बच पाता। शत्रु को उलटे अपनी ओर से वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता

है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रान्त है। हम भी खुद ऐसा मानते हैं।

पर उस नीति की (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालत में यह कहा जा सकता है कि मरना तो सबको है। कौन नहीं मरता? असल दुश्मन मौत है। किसी और को दुश्मन भला क्यों मानें! कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवता का साधन है वाहन है। असल में तो भाग्य के पंजे में सब हैं। यम उसी भाग्य का प्रहरी है। उसके हाथ से तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमें आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचने का नहीं है, और मुँह दुबका लेने से क्या शुतुरमुर्ग सचमुच भय से छुटकारा नहीं पा जाता? फिर वह मर भी जाय तो क्या?

मानना होगा कि प्रश्न अन्त में किसी भी शत्रु से बचने का उतना नहीं है। उतना क्या बिलकुल भी नहीं है। तमाम प्रश्न (उसके) भय से बचने का है। यह तो हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौत के चंगुल से बचना नहीं होगा। इस प्रकार के सब प्रयत्न निष्फल होंगे। अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरने की घड़ी हम सीधे ढंग से मर जायँ, पर मरने से पहले थोड़ा भी न मरें, अर्थात् मरने के भय से बचे रहें।

क्या यही लक्ष्य नहीं है? और क्या इसी लक्ष्य के साधन में मनुष्य ने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नहीं आविष्कृत किये? फिर शुतुरमुर्ग को मूर्ख क्यों कहते हो?

शुतुरमुर्ग के वकील के जवाब में क्या कहा जाय? पर एक तो भय से बचने की पद्धति स्वयं भय-का-भय है। यह शुतुरमुर्ग की है। अधिकांश में मानव के यत्न भी इसी पद्धति के हैं। पर दूसरा, भय को निर्भयता से जीतने का उपाय है। इसमें भय से छिपा नहीं जाता,

उस पर विजय पाई जाती है। उसका सामना किया जाता है।

शुतुरमुर्ग ने अपने को रेत में गाड़ लिया और भय से बचा लिया। इस भाँति वह सहज भाव से मर गया। आदमी ने धर्म की सृष्टि की, उसमें अपने को गाड़ लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भाव से मर गया। धर्म से उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मन्तव्यों की सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाड़े रखकर वह हार्दिकतापूर्वक मर गया। असल में सब बात मरते समय सहज भाव रखने की है। जो जितना निर्भय है, सरल भाव से मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धि की निगाह को बाँधकर कहीं-न-कहीं गाड़ लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड़ लेना जरूरी है। पर इसमें और शुतुरमुर्ग की क्रिया में अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धाप्रेरित हो सकती है।

एक प्रकार के मतवादी हैं जो तर्कपूर्वक सिद्ध करते हैं कि आँख चारों ओर देखने के लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तु का पल्ला पकड़कर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरह की साइंसों के चौखूँटे नक्शे बनाकर दिया करते हैं।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञान की बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेचनशील, सम्भ्रान्त और सुखमय होता है। ये लोग सब बातों को तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसी पर श्रद्धा नहीं रखते, किसी पर फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे रूढ़ि पर चलने वाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौत का इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरे की भी और अपनी भी मौत का। मौत की व्याख्या तटस्थ भाव से ये करते हैं, पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धा के कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भय के आधार पर खड़ी होती है। भय में से नियम-कानून,

पुलिस-फौज, अदालत-जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते हैं। भय अद्भुत-रूप में सहनशील है। वह ज़बर्दस्त शक्ति को उत्पन्न करता है। भय-जात साहस और भय-जात बल में आसुरी प्रबलता है। भय एक दृष्टि से उपकार भी करता है। उससे निर्भीकता की अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होती है। भय निस्सन्देह उन्नति के मार्ग में बहुत जरूरी है। पर भय उभय है। उससे मौत पास खिंचती है। वह मौत का न्यौता है।

श्रद्धा में से शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते हैं। श्रद्धा मौत को प्रेम भी कर सकती है। इसलिए नहीं कि वह मौत है, बल्कि इसलिए कि श्रद्धा जानती है कि मृत्यु जीवन की दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्ण की मौत है तो इसी निमित्त कि नूतन की सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मींचती। वह आँख खोले रखकर मौत में जीवन के सन्देश को और शत्रु में बन्धु को पहचानती है।

हम कह सकते हैं कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुतुरमुर्ग नहीं है, पर हम उस मतवादी से कैसे पार पाएँ जो मनुष्य को इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उसके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादी को शुतुरमुर्ग का वकील कहते हैं।

मुझे इसमें सन्देह है कि आँख एक ही बार में चारों तरफ देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पल में एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धि में दृश्य को (Perspective) देखने की शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। (Perspective) की शक्ति अर्थात् दृश्य की विभिन्नता में एकता देखने की शक्ति। इसी प्रकार व्यक्तित्व को चहुँमुखी होने के लिए एक निष्ठा की आवश्यकता है। शंका के सामर्थ्य के लिए निश्शंकित चित्त चाहिए और अन्वय की शक्ति के लिए समन्वय की साधना चाहिए। मुझे इसमें बहुत सन्देह है कि वह बुद्धि जो चारों ओर जाती है, किसी भी

ओर दूर तक जा सकती है। मुझे इसमें भी बहुत सन्देह है कि जिसको श्रद्धा का संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि अपने-आप में वन्ध्या है। वह भय में से उपजी है और भयाश्रित बुद्धि लगभग शुतुरमुर्ग़-जैसी है। उससे निस्सन्देह मदद बहुत भी मिलती है। उसकी मदद से व्यक्ति थोड़ी-बहुत निर्भयता भी सम्पादन करता है; पर वह अन्ततः मन को उठाती नहीं है और स्वयं भी विकारहीन नहीं है।

किसी बृहत्तर अज्ञेय में अपने को गाड़ देने से हम अपने को संकुचित नहीं बनाते। अपनी बुद्धि के भीतर रत रहने से जैसे हम ह्रस्व होते हैं उसी भाँति श्रद्धापूर्वक विराट् सत्ता के प्रति समर्पित हो रहने से हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदि की भावनाएँ मनुष्य की इसी प्रकार अभ्युदय-स्फूर्ति का फल हैं और वह इन भावनाओं द्वारा अपने ही घेरे से ऊँचा उठता है।

शुतुरमुर्ग़ की कथा मनुष्य पर ज्यों-की-त्यों लागू है, अगर वह भय को जीतने के लिए अपनी भयाक्रान्त धारणाओं में ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथा के उदाहरण के प्रयोग से बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत-कुछ बाहर हो जाते हैं जबकि अपने बचाव की चिन्ता नहीं करते प्रत्युत (मालूम होने वाले) शत्रु के सम्मुख बढ़ चलते हैं। शत्रु को जब हम अपने से भिन्न देखते ही नहीं और उससे भागने की जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न-प्रेम भाव से उसे अपनाते हैं, फिर इसमें चाहे हमें उसके हाथों मौत ही मिले। पर मौत में हार नहीं है, हार तो भय में है। मौत तो जीवन-तत्त्व की प्रतिष्ठा में नियुक्त एक सेविका-मात्र ही है।

हमारे घर की जो मुन्नी अपनी आँखें मूँदकर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असल में वह हममें से अधिकांश की बुद्धि की प्रतिनिधि है। न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्कर में पड़े हैं। बुद्धि पग-पग पर हमें बहकाती और फुसलाती है। वह प्रवंचना है,

वह भय की प्रतिक्रिया है। भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थना की ओर ले जाय। श्रद्धा भय का काट है। भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभाव की ओर ले जाता है। हम जान रक्खें कि एक साहस है जो भय में से उपजता है। वह आवेश-युक्त, ज्वराक्रान्त और पर्याप्त से अधिक तीखा होता है। वह दूसरे को डराकर अपने को साहस सिद्ध करता है। वह चमत्कृत भय का प्रतिरूप है। हमारी बुद्धि भी अहंजन्य भीरु साहसिकता को अपनाती और पोसती है, पर वह साहस सस्ती चीज़ है और नकली है। वैसी साह-सिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है। शराब पीकर जो दुर्बल बड़ी डींगें हाँकता है, वह डींग उसकी उस दुर्बलता को ही व्यक्त करती है। कृपया कोई उन्हें बल न समझे। हमारी बुद्धि बड़ी ठगिनी है। क्षीण-शक्ति पुरुष क्यों शराब की ओर जाता है? इसीलिए कि वह अपने को ठगना चाहता है। नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है। कुछ देर तक के लिए क्यों न हो वह अपने से बचने के लिए नशे का सहारा पकड़ता है। बुद्धि हमें बताती है कि हम-हम हैं और वह अमुक हमारा शत्रु है और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमें भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर-बाहर के द्विभेद पर हमारी बुद्धि अपना किला बाँधे बैठी है। वह हमें परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमें भय के मार्ग से अपने उन इस या उस शत्रु से बचने या बदला लेने के नाना उपाय निरन्तर सुझाती रहती है। पर ये सब शुतुरमुर्ग या शिकारी के उपाय हैं। वे सब मौत के निमन्त्रण के रूप हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेद की झाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत् के प्रति दृढ़ और परमात्मा के प्रति व्यक्ति को कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट, अजेय और अमर बनता है। वह मरता है पर अमर होने के लिए, क्योंकि मृत्यु में उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अज्ञेय में से रस लेती है और

उसी में अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त और मुक्त होती जाती है। वह घेरती नहीं, बाँधती नहीं। काट-फाँस करने वाली लकीरें वह नहीं उपजाती। वैसी विधि-निषेध की लकीरें हैं, और उनकी धार तीखी भी कर दी जाती है। मुक्त-बुद्धि सापेक्षता में उन्हें निभाती ही है, उन्हें स्वयं सत्य नहीं बनने देती; बल्कि अपने समन्वित व्यवहार से वह उनको उत्तरोत्तर अधूरी, ओछी और मिथ्या सिद्ध कर पाती है। वह श्रद्धा से तद्‌गत है, इससे अविकारी है। उससे अलग वादवादी जो बुद्धि है, अहंग्रस्त है। सच पूछिए तो वह अबुद्धि ही है। इस तरह देखें तो मनुष्य का बुद्धिवाद निपट अबुद्धि का ही वाद हमें दीखेगा। और उसका अहंकार करना हम छोड़ देंगे।

दूर और पास

जब दूरबीन पहले-पहल हाथ आई तब विलक्षण अनुभव हुआ। सुना था उससे दूर की चीज़ पास दीख आती है। लेकिन मैंने देखा तो पास की चीज़ दूर हो गई थी। पीछे पता चला कि मैंने दूरबीन को उल्टी तरफ़ से देखा था। फिर सीधी तरफ से देखा तो बात सही थी। दूर की चीज़ बेशक पास दीखती थी। लेकिन इस गलती से भी लाभ हुआ। जब पास की चीज़ को दूर बनाकर देखा तब दृश्य की सुन्दरता बढ़ गई जान पड़ती थी। दूर की चीज़ पास आ जाने से दृश्य में मोहकता उतनी न रह गई थी। पता चला—

दूरी मोह पैदा करती है—Distance lends Cham; दूरी मिट जाय तो सुन्दरता के बोध के लिए गुँजायश नहीं रहेगी।

यह तो राह चलने की बात हुई। लेकिन जिस विचित्र अनुभव का जिक्र यहाँ करना है वह यह है कि जो चीज़ एक ओर से दूर को पास करती है, वही दूसरी ओर से पास को दूर बना देती है।

अर्थात् दूर होना और पास होना ये कोई निश्चित स्थितियाँ नहीं हैं। वे अपेक्षापेक्षी हैं। उनमें अदल-बदल हो सकता है।

दूरबीन की मदद से ऐसा होता ही है। लेकिन बिना दूरबीन के भी आँख नित्यप्रति ऐसा करती है, यह भी सही है। आँख में तर-तमता की शक्ति है। जो पास की चीज़ को देखती है वही आँख कुछ दूर की चीज़ भी देख लेती है, आँख की नसें यथानुरूप फैल-सिकुड़ कर आँख की इस शक्ति को क़ायम रखती हैं।

वस्तुओं का मूल्य भी इस पर निर्भर करता है कि हम उनसे कितने पास अथवा कितने दूर हैं। क्योंकि, दूरी और निकटता निश्चित मान के तत्त्व नहीं हैं, इसी से किसी वस्तु का एक ही मूल्य नहीं है। वह मूल्य अलग-अलग लोगों की निगाह में अलग-अलग है, और देशकाल के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

दूर की बड़ी चीज़ छोटी लगती है, पास की छोटी बड़ी। आँख के आगे दो उँगली खड़ी कर लें तो सूरज ढक जाता है। पर सूरज बहुत बड़ा है, दो उँगलियों की चौड़ाई उसके सामने भला क्या है। फिर भी, पास होने से मेरे हिसाब से दो उँगलियाँ सूरज से बड़ी बन जाती हैं और सूरज को देखने से रोक सकती हैं। पास का पेड़ बड़ा दीखता है, दूर का पहाड़ उभरी काली लकीर-सा दीखता है।

परिणाम निकला कि बाहरी छुट-बड़पन कोई निश्चित मान का तत्त्व नहीं है, वह प्रयोजनाश्रित तथ्य ही है।

इसलिए, असल प्रश्न यह हो रहता है कि हमारी तर-तमता की शक्ति कितनी है? आँख की दृष्टि की वह शक्ति तो परिमित ही है, लेकिन मन की दृष्टि की शक्ति का परिमाण वैसा बँधा नहीं है। वह उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। मन की दृष्टि-शक्ति का नाम है—कल्पना।

जो नहीं दीखता, कल्पना उसे भी देखती है। जो पास है, कल्पना उसे भी दूर बना सकती है। जो बहुत दूर है, कल्पना उसे भी खींच कर प्रत्यक्ष कर देती है।

कल्पना दूरबीन की भाँति बड़ी उपयोगी चीज़ है। पर उसके उपयोग की विधि आनी चाहिए। अन्यथा वह कीमती खिलौने से अधिक कुछ नहीं रह जाती।

पर नहीं, वह हर हालत में क़ीमती खिलौने से अधिक है। क़ीमती खिलौना तो ज्यादा-से-ज्यादा टूट कर रह जायगा। पर कल्पना खुद नहीं टूटती, आदमी को तोड़ती है। उसका ग़लत उपयोग हुआ तो

वह आदमी को तोड़-मोड़कर पशु बना सकती है। उसके ठीक इस्तेमाल से आदमी देवता बन जाता है, इसलिए, कल्पना खिलौना नहीं है और उससे खेलने में सावधान रहना चाहिए।

दूरबीन जिसके पास पैसा है वही बाजार से ला सकता है, पर कल्पना तो सभी को मिली है। उसके लिए किसी को भी किसी बाज़ार में भटकना नहीं है। वह भीतर मौजूद है। सवाल इतना ही है कि उसका इस्तेमाल होता रहे और वह मैली न हो, और न ढीली-ढाली हो जाय। ठीक काम के लायक रहे और वह बहके नहीं।

सच बात यह है कि जैसे निगाह खराब होने का मतलब यही है कि उसमें दूर को ठीक दूर और पास को ठीक पास देखने की शक्ति नहीं रह गई है वैसे ही बुद्धि की खराबी का मतलब सिवा इसके कुछ नहीं है कि कल्पना की लचक उसमें कम हो गई है।

हमारा रोज़ का अनुभव है कि अगर अपने ही हाथ को हम अपनी आँखों के बहुत निकट लाते चले जायँ तो अन्त में आँख काम नहीं देगी और मालूम होगा कि जैसे हाथ रहा ही नहीं है। किसी भी तसवीर को हम पास से और पास देखने का आग्रह करके उसे सिर्फ धब्बा बना दे सकते हैं। यहाँ तक कि उसे अपनी आँख से बिलकुल सटा लेकर कह सकते हैं कि वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि हमें कुछ भी नहीं दीखता है। इस भाँति हरेक सुन्दरता जरूरत से अधिक पास ले लेने पर असुन्दर और फिर असत् हो जायगी।

इसलिए, हमारा प्रत्येक के प्रति एक प्रकार का सम्मान का अन्तर चाहिए ही। उस अन्तर को मिटाकर भोग की निकटता पैदा की कि वहाँ सुन्दरता भी लुप्त हुई।

यह रोज़ का ही अनुभव है। हम चीज़ों को देखते हैं और वे सुन्दर लगती हैं। सुन्दर लगती हैं, तो हम उन्हें चाहने लगते हैं। चाहने लगते हैं तो उन्हें पाने की लालसा करते हैं। इस लालसा की बुद्धि से हम उन्हें छूते हैं, पकड़ते हैं अर्थात् उन्हें मर्यादा से अधिक

अपने निकट ले लेते हैं। परिणाम होता है कि हमारा सम्भ्रम मिट जाता है और जिसको मनोरम मानकर चाहा था वह धीमे-धीमे वीभत्स हो जाता है और हमारे चित्त को ग्लानि होने लगती है। तब उकताकर उसे छोड़ हम दूसरी ओर लपकते हैं। पर वहाँ भी वही होता है और वहाँ भी अन्ततः ग्लानि हाथ आती है।

अनुभव में आया है कि जिस जगह में हमें बिलकुल दिलचस्पी नहीं हुई है, वहाँ के फोटोग्राफ़ लुभाने हो जाते हैं। खण्डहर हमारी निगाह में खण्डहर है लेकिन उसी का चित्र कभी हमारे लिए इतना सुन्दर हो जाता है कि हम सोच भी नहीं सकते थे।

यह इसीलिए कि फोटोग्राफ़ से हमारी पर्याप्त अलहदगी है। फोटोग्राफ़ में हम उस दृश्य को एकत्रित भाव में देख सकते हैं। आग्रह वहाँ हमारा मन्द है। वहाँ हमारे मन की स्थिति से विलग भी उसकी सत्ता है। मानो उस चित्र का अस्तित्व ही नहीं, व्यक्तित्व है।

परिणाम यह कि दूरी भी कभी बिलकुल नष्ट नहीं हो जानी चाहिए! दूरी बिलकुल न रहे तो आँख बिलकुल न देख पाये, बुद्धि बिलकुल न समझ पाये। और मन पर ज़ोर इतना पड़े कि ठिकाना नहीं और तिस पर भी चहुँ ओर सिवा अँधेरे के कुछ न प्रतीत हो।

सब वस्तुओं, सब स्थितियों, सब दृश्यों और व्यक्तियों के प्रति यह समादर की दूरी इष्ट है। इसको विनय-भाव कहिये, अनासक्ति कहिये, असंलग्नता कहिये, दृष्टि की वैज्ञानिकता कहिये—चाहे जिस नाम से इसे पुकारिये। सम्बन्ध में एक प्रकार की तटस्थता ही चाहिए। जो भी हम छू रहे, देख रहे, चाह रहे हैं, ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपना भी स्वत्व है। वह प्रयोजनीय पदार्थ ही नहीं है। वह भी अपने-आप में सजीव और सार्थक हो सकता है। उसमें भी वह है, जो हम में है। एक ही व्यापक तत्त्व दोनों में है। जो हम हैं वही यह है। इसलिए किसी अविनय का अथवा आहरण का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? सम्बन्ध प्रेम, आनन्द और कृतज्ञता का हो सकता है।

जिसको कल्पना कहा, उसका इसी जगह उपयोग है।

जो हम हैं वह तो कोई भी नहीं है। हम जैसे बुद्धिमान हैं, क्या कोई दूसरा वैसा हो सकता है? साफ बात तो यह है कि हम हमीं हैं। कोई भला हम जैसा क्या होगा? असंस्कारी अहंकारी बुद्धि इसी प्रकार सोचती है।

लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि ऐसा सोचने वाले की कल्पना-शक्ति क्षीण हो गई है। कल्पना हमें तुरन्त बता देती है कि हम अनेकों में एक हैं और अपने में अहंकार अनुभव करने का तनिक भी अवकाश नहीं है। वह कल्पना हमें बताएगी कि दूसरे में भी अहंकार हो सकता है, और रहे, और उस अहंकार का खयाल रखकर चलना ही ठीक होगा। वह कल्पना हमें सब के अलग-अलग स्थान समझने में मदद देगी और सुझाएगी कि समस्त के केन्द्र हम नहीं हैं जैसा कि हम आसानी से समझ लिया करते हैं।

वैसी तटस्थता की दूरी जगत् और जगत् की वस्तुओं के साथ स्थापित करने के बाद आवश्यक है कि हम उनमें भावना की निकटता भी अनुभव करें। दूरी तो है ही, पर निकटता और भी घनिष्ठ भाव से आवश्यक है। वैसी निकटता का बोध जीवन में नहीं है तो जीवन में कुछ रस भी नहीं है।

जिस शक्ति से यह हो, उसका नाम है भावना। यह भावना अभेद-मूलक है। 'नष्ट करती है' का आशय यह कि उसके फासले को यह रस से भर देती है।

जब पहले-पहल खुर्दबीन में से झाँककर देखने का अवसर हुआ था, तो आश्चर्य में रह जाना पड़ा था। बाहर कुछ भी नहीं दीखता था, एक नन्हा—बहुत ही नन्हा-सा पत्ते का खण्ड डैस्क पर रखा था। वह है, इसमें भी शक हो सकता था। उसकी हस्ती कितनी थी। साँस उस पर पड़े तो बेचारा उड़कर कहाँ चला जाय, पता भी न चले। लेकिन खुर्दबीन में से जब देखता हूँ तो देखता हूँ कि क्या कुछ वहाँ

नहीं है। जो आश्चर्यकारक है, जो महान् वह सभी कुछ वहाँ पर भी है। एक दुनिया-की-दुनिया उस पत्ते के खण्ड के भीतर समाई है। वह पत्ते का टूक क्या कभी पूरी तरह जाना जा सकेगा? उसमें कितना रहस्य है, कितना सार। उसमें क्या अगाध अज्ञेयता नहीं है? जाने जाओ, फिर भी जानने को वहाँ बहुत-कुछ शेष रह ही जायगा। खुर्द-बीन में से उस बिन्दी-भर पत्ते को मैंने इतना फैला हुआ देखा कि मानो वही विश्व हो। उसमें मानो नगर थे, मैदान थे, समुन्दर थे। लेकिन वहाँ से आँख हटाने पर क्या मैंने नहीं देख लिया कि हरी-सी बूँद जितने आकार के उस पत्ते की सत्ता इस जगत् में इतनी हीन है, इतनी हीन है कि किसी भी गिनती के योग्य नहीं है।

फिर भी वह है, और नहीं कहा जा सकता कि अपने में वह स्वतन्त्र सृष्टि नहीं है। वह खन्ड वैसा ही स्वयं हो सकता है जैसा मैं अपने में स्वयं हूँ। तब कैसे उसके प्रति अविनयी हो सकता हूँ?

यहीं भावना की आवश्यकता है। कल्पना ने मुझे मेरा स्थान बताया। उसने मुझे स्वतन्त्रता दी, उसने मुझे अपनी ही मर्यादाओं से ऊँचा उठाया, उसने मुझे अनन्त तक पहुँचने दिया और मेरी सान्तता के बन्धन की जकड़ को ढीला कर दिया।

भावना उसी मेरी व्यापकता में रस प्रवाहित करेगी। उसमें अर्थ डालेगी। जो दूर है उसे पास खींचेगी। भावना से प्राणों में उभार आएगा और जिसे कल्पना ने सम्भव देखा था, भावना उसी को सत्य बनाएगी।

जो ब्रह्माण्ड में है पिण्ड में भी वह सभी कुछ है। ब्रह्माण्ड को छूने की ओर कल्पना उठी, तो भावना उसी सत्य को पिण्ड में पा लेने की साधिका हुई। (Extensity) "विस्तृत" में नहीं, (Intensity) 'घनता' द्वारा ही वह सम्पूर्ण अपनाएगी। दर्शन की मर्यादा अगम है, पर प्रीत-भक्ति की घमता उससे भी गहरी जायगी। प्राणों का उभार (Tension) कल्पना की उड़ान से अधिक सार्थक हो सकेगा। उससे

उपलब्धि गम्भीर होगी।

कल्पना और भावना ये दोनों ही जीवन की प्रगति के मूल में हैं। दोनों अनिवार्य हैं, दोनों अमूल्य हैं। पर दोनों का खतरा भी बहुत है। दोनों से मनुष्य विराट् की ओर बढ़ता है, पर इन्हीं से वह अपना विनाश भी बुला सकता है।

भावना से जब हम परस्पर में क्लेश-विशिष्ट दूरी पैदा करते हैं और कल्पनाहीन बुद्धि से लालसाजनित निकटता में रमण करते हैं, तब ये ही दोनों शक्तियाँ हमारी शत्रु हो जाती हैं। और हमारा अनिष्ट साधन करती हैं। जो मेरे पास है, वह मेरा स्वत्व नहीं है, क्योंकि उसका अपने में अलग स्वत्व भी है। कल्पना-हीन होकर हम प्राणों को ऐसे पाते हैं, मानो उसकी सार्थकता हमारे निकट प्राप्त होने में ही है। यह हमारी भूल है और इससे हमारी अपनी ही प्राप्ति का रस ह्रस्व होता है। यही मानव का मोह और अहंकार है।

दूसरी ओर भावना को हम दुर्भावना बना डालते हैं और उसके सहारे परस्पर की निकटता नहीं बल्कि दूरी बढ़ा लेते हैं। मन ही एक हो सकता है, तन अनेक हैं। पर मन हम फटने देते हैं और तन की निकटता के कामुक होते हैं। नतीजा इसका विनाश है।

जो दूर है उसे दूर, जो पास है उसे पास जानना होगा। फिर भी जानना होगा कि दूर है वह भी पास है और जो पास मालूम होता है, उसे भी दूर रखने की आवश्यकता हो सकती है। तन जुदा-जुदा हैं, आत्मा एक है। आत्मैक्य को कल्पना द्वारा प्राप्य और भावना द्वारा सुलभ बनाना होगा। और अपनी एवं सबकी, देह की अभिन्नता के प्रति सम्मान और सम्भ्रम का भाव रखना होगा। सबके स्वत्व का आदर करना होगा, किसी स्वत्व का अपहरण गर्हित समझना होगा। यही दूर-पास का भेद है। इस दूर और पास की तर-तमता का भेद हमने खोया तो समझो अपने को ही खोया। इसको जानकर हम अपने को पाने का प्रयत्न करें, यही शुभ है।

उपयोगिता

शायद चौथी क्लास में आकर अँग्रेज़ी की पहली किताब के पहले सबक में हमने पढ़ा—'परमात्मा दयालु है। उसने हमारे पीने के लिए पानी बनाया, जीने के लिए हवा, खाने के लिए फल-मेवा आदि-आदि।'

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं। हम भोले नहीं थे। बच्चे तो थे, पर बुद्धिमान् किसी से कम नहीं थे। पूछा—'क्यों मास्टर जी, सब-कुछ ईश्वर ने बनाया है?'

मास्टर जी बोले—'नहीं तो क्या?'

जहाँ हम पढ़ते थे वहाँ हवा आधुनिक थी। बालकों में स्वतन्त्र बुद्धि जागे यह लक्ष्य था। हमने कहा—'तो उस ईश्वर को किसने बनाया है? और उस ईश्वर ने कहाँ बैठकर किस तारीख़ को यह सब-कुछ बनाया है?'

मास्टर जी ने कहा—'पढ़ो-पढ़ो। वाहियात बातें मत करो।'

जी हाँ, वाहियात बात! पहली में नहीं, दूसरी में नहीं; तीसरी में नहीं, चौथी क्लास में हम थे। हमें धोखा देना आसान नहीं था। और कुछ जानें न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है। यह भी जानते थे कि ईश्वर ने सभ्यता का बहुत नुकसान किया है। वह पाखण्डी है। उससे छुट्टी मिलनी चाहिए। सो, उस सबक़ पर हमने मास्टर जी को चुप कराके ही छोड़ा। मास्टर जी की एक भी बात हमारे हाथों साबित नहीं बची, सब हमने काट-फाँट फेंकी। मास्टर झुँझलाकर तब

इतना ही कह पाये—'पढ़ो-पढ़ो।'

मास्टर जी पर हमने दया की कि सबक़ आगे भी पढ़ा। लेकिन उस समय दो बातें हम निर्भ्रांत रूप में जान चुके थे—

१. कि ईश्वर कुछ नहीं है और हो तो फिजूल है और उसने कुछ नहीं बनाया।

२. कि जो कुछ है हमारे लिए है। सृष्टि में सार है, हम सेवक हैं।

दस बरस का वह (मैं) नवीन बालक पैंतालीस-पचास बरस के आज के मुझ जीर्ण बालक से अधिक अज्ञान था, यह मैं नहीं कह सकता। अज्ञानी मैं जैसा-का-तैसा हूँ। बीच में इतना अन्तर अवश्य पड़ा है कि पैंतीस-चालीस वर्ष के अनुभव का मैल मेरे सिर और चढ़ गया है। मन की स्वच्छता में दस वर्ष के बालक से मेरी कोई समता नहीं है। इतने बरसों की दुनियादारी की मलिनता से मैं आज मलिन हूँ। बालक की भाँति मेरी बुद्धि कहाँ स्वतन्त्र है?

इसलिए आप भला करें कि मेरी बात न सुनें। फिर भी अगर आप इस बात को सुनना गवारा करते हैं तो मैं विश्वासपूर्वक कहे देता हूँ कि न खेलता पानी हमारे लिए है, न बहती हवा हमारे लिए है। न सूरज की भोली धूप, न चाँद की छिटकी चाँदनी तनिक भी हमारी हो सकती है।

पहाड़ आसमान में उजला माथा उठाए धूप से झक-झकाता हुआ खड़ा है। फलों से लदे पेड़ नम्र भाव से हौले-हौले झूम रहे हैं। खेतों में पौधों के शीर्ष पर पक्के अन्न की सुनहरी बालें झूमर-सी लटक रही हैं। घास बिछी है। आकाश है। बादल लहर-लहर भाग रहे हैं। यह सब-कुछ है, पर यह मेरे बिना भी है। मेरे निमित्त नहीं है, मैं उनके निमित्त हूँ। सब सबके लिए है और कुछ मेरे लिए नहीं है।

मैं यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ। लेकिन यह भी कहता हूँ कि आप उसे विवेकपूर्वक ही स्वीकार करें।

पर ज़रा ठहरिए। इस बातचीत के आरम्भ से ही एक भाई मेरे

पास बैठे हैं। अधीर हैं, शायद कुछ कहना चाहते हैं। इजाज़त दें तो उनकी बात सुन लूँ।

'हाँ भाई, क्या कहते हो? कहो, कहो, सकुचाओ मत।'

'कहता यह हूँ' उन्होंने कहा, 'कि आप बूढ़े हो गये हैं। आपकी बुद्धि सठिया गई है। आप चौदहवीं सदी में रहते हैं। खेत में अनाज कौन बोता है?—हम बोते हैं। किसलिए बोते हैं?—अपने खाने के लिए बोते हैं। अगर उस अनाज के होने में कोई अर्थ है तो यह अर्थ है कि हम उसे खाएँ। जो है वह अगर हमारे लिए नहीं है तो किसके लिए है?

यह भाई विद्वान् मालूम होते हैं। अच्छी समझदारी की बात कहते हैं। लेकिन—

''आप चुप क्यों हो गये?' उन भाई ने टोककर कहा, 'आप बहक गये हैं'—मैंने क्षमा-प्रार्थनापूर्वक विश्वास दिलाया, 'मैं सुन रहा हूँ, सुन रहा हूँ।'

'सुन रहे हैं तो सुनिए' वह बोले, 'हमारे माथे में आँखें हैं। हमारे बाहुओं में बल है। आपकी तरह मौत की प्रतीक्षा ही हमारा काम नहीं है। प्रकृति का जितना वैभव है, हमारे लिए है। उसमें जो गुप्त है इसलिए कि हम उसे उद्घाटित करें। धरती में छिपा जल है तो इसलिए कि हम उस धरती को छेद डालें और कुएँ खोदकर पानी खींच लें। धरती के भीतर सोना-चाँदी दबा है और कोयला बन्द है—अब हम हैं कि धरती को पोला करके उसके भीतर से सब कुछ उगलवा लें। आप कहिए कि कुछ हमारे लिए नहीं है तो बेशक कुछ भी आपके लिए न होगा। पर मैं कहता हूँ कि सब-कुछ हमारे लिए है; और तब, कुछ भी हमारी मुट्ठी में आये बिना नहीं रह सकता।'

वह विद्वान् पुरुष देखने से अभी पकी आयु के नहीं जान पड़ते। उनकी देह दुर्बल है, पर चेहरे पर प्रतिभा दीखती है। ऊपर की बात कहते हुए उनका मुख जो पीला है, रक्ताभ हो आया है। मैंने पूछा,

'भाई, आप कौन हो? काफी साहस आपने प्राप्त किया है।'

'जी हाँ, साहस हमारा हक है। मैं युवक हूँ। मैं वही हूँ जो स्रष्टा होते हैं। मानव का उपकार किसने किया है? उसने जिसने कि निर्माण किया है। उसने जिसने कि साहस किया है। निर्माता साहसी होता है। वह आत्म-विश्वासी होता है। मैं वही युवक हूँ। मैं वृद्ध नहीं होना चाहता।'

कहते-कहते युवक मानो काँप आये। उनकी आवाज़ काफी तेज़ हो गई थी। मानो किसी को चुनौती दे रहे हों। मुझे नहीं प्रतीत हुआ कि यह युवक वृद्ध होने में सचमुच देर लगाएँगे। बाल उनके अब भी जहाँ-तहाँ से पक चले हैं। उनका स्वास्थ्य हर्षप्रद नहीं है और उनकी इन्द्रियाँ बिना बाहरी सहायता के मानो काम करने से अब भी इन्कार करना चाहती हैं।

मैंने कहा, 'भाई, मान भी लिया कि सब-कुछ हमारे लिए है। तब फिर हम किसके लिए हैं?'

युवक ने उद्दीप्त भाव से कहा, 'हम किसके लिए हैं? हम किसी के लिए नहीं हैं। हम अपने लिए हैं। मनुष्य सचराचर विश्व में मूर्धन्य है। वह विश्व का भोक्ता है। सब उसके लिए साधन हैं। वह स्वयं अपने-आप में साध्य है। मनुष्य अपने लिए है। बाकी और सब कुछ मनुष्य के लिए है—'

मैंने देखा कि युवक का उद्दीपन इस भाँति अधिक न हो जाय। मानव प्राणी की श्रेष्ठता से मानो उनका मस्तक चहक रहा है। मानो वह श्रेष्ठता उनसे झिल नहीं रही है। श्रेष्ठता तो अच्छी ही चीज़ है, पर वह बोझ बन जाय यह ठीक नहीं है। मैंने कहा, 'भाई, मैंने जल-पान को पूछा ही नहीं। ठहरो, कुछ जल-पान मँगाता हूँ।'

युवक ने कहा, 'नहीं—नहीं,' और वह कुछ अस्थिर हो गया। मैंने उनका संकोच देखकर हठ नहीं की। कहा, 'देखो भाई, हम अपने-आप में पूरे नहीं हैं। ऐसा होता तो किसी चीज़ की ज़रूरत न होती।

पूरे होने के रास्ते में ज़रूरतें नहीं होती हैं। पूरे हो जाने का लक्षण ही यह है कि हम कहें यह ज़रूरत नहीं रह गई। कोई वस्तु उपयोगी है, इसका अर्थ यही है कि हमारे भीतर उसकी उपयोगिता के लिए जगह खाली है। सब-कुछ हमें चाहिए, इसका मतलब यह है कि अपने भीतर हम बिलकुल खाली हैं। सब कुछ हमारा हो,—इस हविस की जड़ में तथ्य यह है कि हम अपने नहीं हैं। सब पर हम कब्जा करना चाहते हैं तो आशय है कि हम पर हमारा ही काबू नहीं है, हम पदार्थों के गुलाम हैं। क्यों भाई, आप गुलाम होना पसन्द करते हो ?'

युवक का चेहरा तमतमा आया। उन्होंने कहा, 'गुलाम ! मैं सब का मालिक हूँ। मैं पुरुष हूँ। पुरुष की कौन बराबरी कर सकता है ? सब प्राणी और सब पदार्थ उसके चाकर हैं। वह अधिष्ठाता है, वह स्वामी है। मैं गुलाम ? मैं पुरुष हूँ,—मैं गुलाम !······

आवेश में आकर युवक खड़े हो गए। देखा कि इस बार उनको रोकना कठिन हो जायगा। बढ़कर मैंने उनके कन्धे पर हाथ रखा और प्रेम के अधिकार से कहा, 'जो दूसरे को पकड़ता है, वह खुद पकड़ा जाता है। जो दूसरे को बाँधता है वह खुद को बाँधता है। जो दूसरे को खोलता है वह खुद भी खुलता है। अपने प्रयोजन के घेरे में किसी पदार्थ को या प्राणी को घेरना खुद अपने चारों ओर घेरा डाल लेना है। इस प्रकार स्वामी बनना दूसरे अर्थों में दास बनना है। इसलिए, मैं कहता हूँ कि कुछ हमारे लिए नहीं है। इस तरह सबको आज़ाद करके अपनाने से हम सच्चे अर्थों में उन्हें 'अपना' बना सकते हैं। अनुरक्ति में हम छुद्र बनते हैं, विरक्त होकर हम ही विस्तृत हो जाते हैं। हाथ में कुण्डी बगल में सोंटा, चारों दिसि जागीरी में—भाई, चारों दिशाओं को अपनी जागीर बनाने की राह है तो यह है।—'

अब तक युवक धैर्य-पूर्वक सुनते रहे थे। अब उन्होंने मेरा हाथ अपने कन्धे पर से झटक दिया और बोले, "आपकी बुद्धि बहक गई है। मैं आपकी प्रशंसा सुनकर आया था। आप कर्तृत्व का उपदेश न देकर

यह मीठी बहक की बातें सुनाते हैं। मैं उनमें फँसने वाला नहीं हूँ। प्रकृति से युद्ध की आवश्यकता है। निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। प्रकृति ने मनुष्य को हीन बनाया है। यह मनुष्य का काम है कि उस पर विजय पाये और उसे चेरी बनाकर छोड़े। मैं कभी यह नहीं सुनूँगा कि मनुष्य प्रारब्ध का दास है।"

मैंने कहा, 'ठीक तो है। लेकिन भाई—'

पर मुझे युवक ने बीच ही में तोड़ दिया। कहा, 'जी नहीं, मैं कुछ नहीं सुन सकता। देश हमारा रसातल को जा रहा है। और उसके लिए आप जैसे लोग ज़िम्मेदार हैं—'

मैं एक अकेला-सा आदमी कैसे इस भारी देश को रसातल जितनी दूर भेजने का श्रेय पा सकता हूँ, यह कुछ मेरी समझ में नहीं आया। कहना चाहा, 'सुनो तो भाई—'

लेकिन युवक ने कहा, 'जी नहीं, माफ़ कीजिए।' यह कहकर वह युवक मुझे वहीं छोड़ तेज़ चाल से चले गए।

असल में इतनी बात बढ़ने पर मैं पूछना चाहता था कि भाई, तुम्हारी शादी हुई या नहीं? कोई बाल-बच्चा है? कुछ नौकर-चाकरी का ठीक-ठाक है, या कि क्या? गुज़ारा कैसे चलता है? मैं उनसे कहना चाहता था कि भाई, यह दुनिया अजब जगह है; सो तुम्हें जब ज़रूरत हो और मैं जिस योग्य समझा जाऊँ, उसे कहने में मुझसे झिचकने की आवश्यकता नहीं है। तुम विद्वान् हो, कुछ करना चाहते हो। मैं इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे तुम अपना ही जानो। देखो भाई, संकोच नहीं करना—पर उन युवक ने यह कहने का मुझे अवसर नहीं दिया, रोष भाव से मुझे परे हटाकर चलते चले गए।

उन युवक की एक भी बात मुझे नामुनासिब नहीं मालूम हुई। सब बातें युवकोचित थीं। पर उन बातों को लेकर अधीर होने की आवश्यकता मेरी समझ में नहीं आई। मुझे जान पड़ता है कि सब-कुछ का स्वामी बनने से पहले खुद अपना मालिक बनने का प्रयत्न वह करें

तो ज़्यादा कार्यकारी हो। युवक की योग्यता असंदिग्ध है, पर दृष्टि उनकी कहीं सदोष भी न हो। उनके ऐनक लगी थी, इससे शायद निगाह निर्दोष पूरी तरह न रही होगी।

पर वह युवक तो मुझे छोड़ ही गए हैं। तब यह अनुचित होगा कि मैं उन्हें न छोड़ूँ। इससे आइए, उन युवक के प्रति अपनी मंगल-कामनाओं का देय देकर इस अपनी बातचीत के सूत्र को सँभालें।

प्रश्न यह है कि अपने को समस्त का केन्द्र मानकर क्या हम यथार्थ सत्य को समझ सकते अथवा पा सकते हैं ?

निस्सन्देह सहज हमारे लिए यही है कि केन्द्र हम अपने को मानें और शेष विश्व को उसी अपेक्षा में ग्रहण करें। जिस जगह हम खड़े हैं, दुनिया उसी स्थल को मध्य-बिन्दु मानकर वृत्ताकार फैली हुई दीख पड़ती है। जान पड़ता है, धरती चपटी है, थाली की भाँति गोल है और स्थिर है। सूरज उसके चारों ओर घूमता है। स्थूल आँखों से और स्थूल बुद्धि से यह बात इतनी सहज सत्य मालूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते हैं जब अपने को विश्व के केन्द्र मानने से हम ऊँचे उठें।—अपने को मानकर भी किसी भाँति अपने को न मानना आरम्भ करें।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है। पर उस धारणा पर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है। मानव अन्य प्राणियों की भाँति कल्पना शून्य प्राणी नहीं है।—मानव को तो यह जानना ही होगा कि सृष्टि का हेतु हममें निहित नहीं है। हम स्वयं सृष्टि का भाग हैं। हम नहीं थे, पर सृष्टि थी। हम नहीं रहेंगे, पर सृष्टि रहेगी।

सृष्टि के साथ और सृष्टि के पदार्थों के साथ हमारा सच्चा सम्बन्ध

क्या है ? क्या हो ?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और 'युटिलिटी' शब्द से जिस सम्बन्ध का बोध होता है वह सच्चा नहीं है। वह काम-चलाऊ भर है। वह परिमित है, कृत्रिम है और बन्धनकारक है। उससे कोई किसी को पा नहीं सकता।

सच्चा सम्बन्ध प्रेम का, भ्रातृत्व का और आनन्द का है। इसी सम्बन्ध में पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है; न यहाँ किसी को किसी की अपेक्षा है, न उपेक्षा है। यह प्रसन्न, उदात्त, समभाव का सम्बन्ध है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, हवा जीने के लिए,—आदि कथन शिथिल दृष्टिकोण का है। अतः यह कथन पक्ष-सत्य ही है।

ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है, और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र जब तक इस 'युटिलिटी' (=उपयोगिता) की धारणा पर खड़े हैं तब तक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नहीं गई। वे शास्त्र अभी सामयिक हैं और शाश्वत का उनको आधार नहीं है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, यह कहना पानी की अपनी सचाई को बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जब तक मुझे प्यास न हो तब तक पानी निरर्थक है। अपनी प्यास के द्वारा ही यदि हम पानी को ग्रहण करते हैं तो हम पानी को नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानी की यथार्थता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझाने की लालसा और ग़रज़ की आँखों से पानी को न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानी के साथ स्थापित करें।

जिसने पानी के सम्बन्ध में किसी नवीन सचाई का आविष्कार किया, जिसने उस पानी को अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानी के साथ उसका सम्बन्ध अधिक

आत्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानी का ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्ति ने जाना और बताया कि पानी H_2O (= दो भाग हाइड्रोजन, एक भाग आक्सीजन) है उसने हमसे ज़्यादा पानी की उस सचाई को प्राप्त किया है! यह कहकर और यहीं रुककर कि पानी हमारे पीने के लिए बना है, हम उसकी भीतरी सचाई को (उसकी आत्मा को) पाने से अपने को वंचित ही करते हैं।

स्पष्ट है कि पानी को H_2O रूप में देखने और दिखाने वाला व्यक्ति पीने के वक्त उस पानी को पीता भी होगा। पर कहने का मतलब यह है कि उस पदार्थ के साथ उस आविष्कर्ता का सम्बन्ध मात्र प्रयोजन का नहीं था, कुछ ऊँचे स्तर पर था।

प्रयोजन का माप हमारा अपना है। हम सीमित हैं, बहुत सीमित हैं, परन्तु विश्व वैसा और उतना सीमित नहीं है। इसलिए, विश्व को अपने प्रयोजनों के माप से मापना आसमान को अपने हाथ की बिलाँद से नापने-जैसा है।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या? नापने का माप हमारे पास अपनी बिलाँद ही है। तिस पर नापने की तबियत से भी हमारा छुट-कारा नहीं है। नाप-जोख किये बिना हमारे मन को चैन नहीं। नाप-नापकर ही हम बढ़ेंगे। एकाएक मापहीन अकूल अनन्त में पहुँच भी जायँ तो वहाँ टिकेंगे कैसे?

बेशक यह ठीक है। नाप-नापकर बढ़ना ही एक उपाय है। हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुँए से खींच लें और अपना काम चलावें। ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आसमान बिलाँद जितना है, न कुँए का पानी लोटा-भर है।—बिलाँद में आसमान को न पकड़ें न लोटे में कुएँ को समेटें!

प्रयोजन होना गलत नहीं है। दुनिया में प्रयोजन नहीं रक्खेंगे तो शायद हमें रोटी मिलने की नौबत न आयगी। पर प्रयोजन के हाथों

सचाई हाथ आने वाली नहीं है, यह बात पक्के तौर पर जान लेनी चाहिए।

जो कुछ है उसकी गर्दन पर अपने प्रयोजन का जूआ जा चढ़ाने से हमारी उन्नति की गाड़ी नहीं खिंचेगी। जीवन ऐसे समृद्ध न होगा।

साहित्य को, कला को, धर्म को, ईश्वर को,—सब-कुछ को प्रयोजन में जानने की चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन हैं पर आशय यह कि उन सत्यों की सचाई प्रयोजनातीत है।

लोक-कर्म में इस तथ्य को ओझल करके चलने से हम खतरे में पड़ सकते हैं। पर मनुष्य का धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खता की क्षमता भी परिमित है।

हमारे समाज में साठ वर्ष से ऊपर के वृद्धों की उपयोगिता कितनी है? अगर वह तौल में इतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उनके पालन में व्यय हो जाता है, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन आराम के साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय? समाज-व्यवस्था का हिसाब-किताब शायद दिखावे, कि इस भाँति इन्तज़ाम में सुविधा और सफ़ाई होगी पर यह नहीं किया जा सका और न किया जा सकता है। यदि अब तक कहीं यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिता शास्त्र फिर अपनी उपयोगिता में किसी महत्त्व का प्रार्थी है।

एक बार एक आमिष-भोजन के प्रचारक ने निरुत्तर कर देने वाली बात सुनाई। उन्होंने कहा कि अगर बकरे खाए न जायँ तो बताइये उनका क्या किया जाय? कोई उपयोग तो उनका है नहीं। तिस पर वे इतने बहुतायत से पैदा होते और इतने बहुतायत से बढ़ते हैं कि अगर उन्हें बढ़ने दिया जाय तो वे आदमी की ज़िन्दगी को असम्भव बना दें। फिर बढ़कर या तो वे भूखे मरें, जो कि निर्दयता होगी, नहीं तो वे दुनिया की खाद्य-सामग्री को खुद खा-खाकर पूरा कर देंगे और फूलते जायँगे। ऐसे दुनिया का काम कैसे चल सकता है? इसलिए मांस

खाना लाज़िम है।

यह लाज़िम होने की बात वह जानें। लेकिन मानव-प्राणियों के प्रति दयार्द्र होकर बकरों को खा जाना होगा, यह बात मेरी समझ में नहीं आई। पर उनकी दलील का उत्तर क्या होगा? उत्तर न भी बने, पर यह निश्चित है कि वह दलील सही नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम अशुद्ध है। मानव-तर्क अपूर्ण है और मैं कभी नहीं समझता कि उस तल के तर्कों के आधार पर आमिष अथवा निरामिष भोजन का प्रचार-प्रतिपादन हो सकता है।

'अहं' को केन्द्र और औचित्य-प्रदाता मानकर चलने में बड़ी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरे में भी किसी प्रकार का अपना 'अहं' हो सकता है। हम अपनी इच्छाओं का दूसरे पर आरोप करते हैं और जब इसमें अकृतार्थ होते हैं तो झींकते-झल्लाते हैं। असल में यह हमारा एक तरह का बचपन ही है। हमारा मन रखने के लिए तमाम सृष्टि की रचना नहीं हुई और हम अपना मन सब जगह अटकाते हैं!—ऐसे दुःख न उपजे तो क्या हो?

छुटपन की बात है। तब हमने पाठशाला में सीखा ही था कि धरती नारंगी के मानिक गोल है। सोचा करते थे कि इस तरह तो अमरीका हमारे पैरों के नीचे है और हमको बड़ा अचरज होता था कि अमरीका के लोग उल्टे कैसे चलते होंगे? वे गिर क्यों नहीं पड़ते। क्योंकि वे धरती पर पैरों के बल खड़े थोड़े ही हो सकते हैं, वे तो मानो धरती से नीचे की ओर उधर लटके हुए हैं। उस समय हम अपने को बड़ा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारत-भूमि में पैदा हुए, अमरीका में पैदा नहीं हुए, नहीं तो उल्टे लटके रहना पड़ता।

आज भी जाने-अनजाने हम में से बहुतों का वही हाल है। जिन धारणाओं को पकड़ कर हम खड़े हैं, हमें जान पड़ता है कि सच्ची सचाई वहीं है, शेष सबके हाथों बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है। पर जैसे कि ऊपर उदाहरण में ऊँच-नीच की हमारी भ्रान्त कल्पना ही

हमारी परेशानी का कारण थी वैसे ही अन्य हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोध का कारण होती हैं।
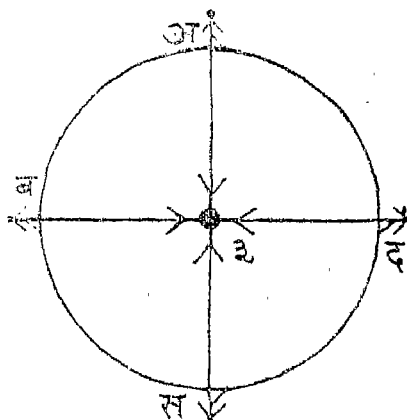
ऊपर के चित्र में ३ को पृथ्वी का केन्द्र मानिए। अ, ब, स और द उस पृथ्वी पर चार अलग बिन्दुओं पर खड़े हुए चार व्यक्ति हैं। क्या वे अपनी-अपनी जगह पर किसी तरह भी ऊँचे-नीचे या कम-अधिक हैं? असल में उनका अपनी ऊँच-नीच की धारणा के हिसाब से दूसरों को नापना बिलकुल ग़लत होगा। जिस धरती पर वे खड़े हैं उसका केन्द्र (अन्तरात्मा) ३ है। उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अन्ततः अपनी सिद्धि के लिए उस ३ बिन्दु की अपेक्षा रखती हैं। वह ३ बिन्दु सबसे समान दूरी पर है। वह सब को एकसा प्राप्य अथवा अप्राप्य है। सब प्रकार का भेद उस केन्द्र-बिन्दु ३ में जाकर लय हो जाता है। वहाँ से आगे कोई दिशा नहीं जाती। सब दिशाएँ वहाँ से चलती हैं और वहीं समाप्त होती हैं अ ३ स अपने-आप में कोई रेखा नहीं है। कोई दिशा या कोई ऐसी रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरे पर वह (जीवन का) केन्द्र-बिन्दु विराजमान न हो। इसलिए

अ ३ स चाहे एक सीधी रेखा दीख पड़ती हो, पर वह भ्रान्ति है;— वैसा है नहीं। वृत्त की परिधि पर के सब बिन्दु माध्याकर्षण द्वारा ३ के प्रति आकृष्ट हैं। उस आकर्षण के ऐक्य के कारण ही पृथ्वी थमी हुई है। ३ सबका स्रोत-बिन्दु है, समस्त का अन्तरात्मा है। वहाँ जाकर किसी की भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार अ और स इन दो बिन्दुओं से प्रतिकूल दिशाओं में चलने वाली दोनों रेखाएँ ३ में ही गिरती हैं। और वे दोनों असल में प्रतिकूल भी नहीं हैं, दोनों अनुकूल हैं, क्योंकि दोनों अपने केन्द्र की ओर चल रही हैं।

चित्र से प्रकट है कि किस प्रकार अ, ब, स, और द अपने-अपने विशिष्ट बिन्दुओं (अहं) को केन्द्र मान लें तो उन व्यक्तियों का जीवन भ्रान्त ही हो जायगा और उस जीवन को कोई दिशा न प्राप्त होगी।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्र में पड़कर विफल हो जाते हैं। अपने घर के घड़े के पानी में जो हम आसमान का अक्स देखते हैं उसी को आसमान और उतने ही को आसमान का परिणाम मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आसमान के प्रतिबिम्ब से बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर अक्सर इतनी समझ हमें नहीं होती और हम अपना अलाभ अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमारे घर के घड़े में प्रतिबिम्बित होना आसमान की सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ता का हेतु यह नहीं है। अपने में बिम्ब धारण करना तो उस घड़े के पानी का गुण-विशेष है। उतना ही आकाश का धर्म और अर्थ मान बैठना उस महारहस्य-मय आकाश से प्राप्त हो सकने वाले अगाध आनन्द से अपने को वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दों में, वह मानव की महान् मूर्खता है।

पर इस अनन्त शून्याकाश को मैं बाँधकर रक्खूँ, तो कहाँ? देखूँ, तो कैसे?—आँखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़े के भीतर के उस प्रतिबिम्ब में मैं बिना कम्पन के झाँक

तो सकता हूँ। यह नील धवल महाशून्याकाश, नहीं तो, मुझसे देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता। कैसे मानूँ कि मैं बहुत अकेला हूँ, बहुत छोटा हूँ। वह असीम है, वारापार उसका कहाँ है? और मैं उसे देखूँ क्यों नहीं? इसलिए मैं उसे अपने घट के शान्त पानी में ही उतारकर देखूँगा।

मैं ज़रूर वही करूँ। वही एक गति है और वही उपयोगिता की उपयोगिता है।

इससे आगे उपयोगिता को दौड़ाना अपनी सवारी के टट्टू को हवा में भगाना है। ऐसे, टट्टू मुँह के बल गिरेगा और सवार की भी खैर नहीं है।

दिल्ली-नगर में बच्चों के लिए दूध की ज़रूरत है और सावन में ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं! आकाश सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छे-के-गुच्छे अंगूर टपका देता है। हमें ज़रूरत अंगूरों की है और आकाश निरुपयोगी भाव से बेहयाई के साथ कोरा-का-कोरा खड़ा है। ये बादल और आसमान दोनों निकम्मे हैं। उनसे कोई वास्ता मत रक्खो। जो उनसे सरोकार रखते हैं उनका बायकाट कर दो। ये तारे, रात में चमकने वाली यह दूधिया आकाश-गंगा, वह बर्फीली चोटियाँ, वह मचलती हवा, वह प्रातः सायं क्षितिज से लग कर बिखर रहने वाले रंग-बिरंगे रंग,—ये सब वृथा हैं। हमको पैसे की सख्त ज़रूरत है, रोटी की बेहद भूख है। और इन सब चीज़ों से न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है। ये अनुपयोगी हैं। मत देखो उनकी तरफ़। इन्कार कर दो उन्हें। उनसे समाज का क्या लाभ? और हम हिसाब-बही में लाभ चाहते हैं, लाभ!

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी बौखलाहट है। वह उपयोगिता की भयंकर अनुपयोगिता है।

धर्म

जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह देखता हूँ है 'धर्म'। यह तो मेरे लिए घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मैं क्या जानता हूँ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं। वह तो करने की है। यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नहीं तो ज्ञान भी नहीं। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। भीड़-भाड़ से भी उसका वास्ता नहीं है। धर्म की साधना एकान्त में और मौन द्वारा होती है। बोलने से तो वाद बनते हैं। वाद से विवाद खड़े होते हैं। अनेकानेक तो आज वाद हैं। उन वादों में आज-कल खींचतान और अनबन है। तू-तड़ाक और मारपीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर बढ़ती ही हुआ करती है। तब उस बोलने में धर्म कहाँ रखा है? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल है।

धर्म अनेकता में मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमें समन्वय लाता है और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शंका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाड़ते हैं तो धर्म हमें जोड़ता है।

फिर भी भाग्य का व्यंग्य समझिए कि उस धर्म के बारे में मुझे बोलना होगा। हाँ, बोलने की भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह

फलप्रद हो। उससे सद्-कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो। तब तो बोलना धर्म है नहीं तो अधर्म। कवि का वचन है, 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी।' उसी तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मैं हूँ कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखण्ड हो जाती है। वह बन्धन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्यूषण-व्याख्यान-माला के आयोजन को सिद्ध तो तभी कहा जायगा, जब उससे कर्तव्य-मार्ग में स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि में चंचलता लाते हैं। बुद्धि छिड़ जाने पर यदि आदमी ठीक काम में न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मैं यह देखता हूँ कि जहाँ हज़ार-पाँच सौ का जमाव रहता है, वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-बुरा कह कर वहीं पल्ला झाड़ चलते हैं। यह धर्म थोड़े ही है।

इससे पर्यूषण-पर्व की यह व्याख्यान-माला हवा में नहीं उड़ जानी चाहिए। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम में एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा में, लगाने को चल पड़ा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिए। मैं भी तो बात कहता हूँ, मैं कौन काम करता हूँ। पर सच्चा आदमी मुँह से कम कहता है। उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्म-निष्ठ का तो जीवन ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा और आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, आग का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर भी जा

सकता है ? जो-जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिए, क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही हैं। पानी ठण्डा हो और आग गरम, इसके सिवा भला और हो क्या सकता है ? तब अधर्म की आशंका कहाँ ?

हाँ, यह ठीक; लेकिन आदमी की बात अजब है। आदमी में कई तहें हैं। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ और चाहता है। इस तरह आदमी में अन्तर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं है। वह स्वस्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है उसका 'स्व' क्या और 'स्वास्थ्य' क्या ?

विचार करने चलते हैं तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है। उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड़ नहीं, चेतन है। इससे जितना आदमी का व्यवहार जड़ शरीर की वासनाओं से बंधा नहीं, बल्कि चैतन्य आत्मरूप होगा, उतना ही वह स्वस्थ है, यानी धर्म-युक्त है।

तो क्या शरीर को काट-काट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आयेगी ? शंकावान ऐसी शंका कर सकते हैं। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि में बाधा है तो उसे सुखा-जला कर नाश किया जाय। यही न ?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नहीं है। सिद्धि का वह मार्ग नहीं है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव है ? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अतः जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु में आत्म-धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह

उसमें न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना में साधक होता है और इस तरह स्वयं एक तीर्थ और एक मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े की तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहेंगे तो वहाँ शरीर तक नहीं रहता। आत्मा ही अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप में विराजती है।

अच्छा, तात्त्विक तो यह बात हो गई। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वयं उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्म-तेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार में कठिनाई दीखती है। ठीक ही है। चलेंगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करें तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पड़े तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढ़ाते हैं कि उलझन दीखती है। यहाँ केवल रूप में धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन-धर्म, सनातन-धर्म, ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, और इस्लाम-धर्म। कोई धर्म अपने को गलत नहीं मानता। और बेशक कोई गलत हो भी क्यों ? पर हर धर्म में कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते हैं कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू हो जाते हैं। तब धर्म का जिज्ञासा में अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बड़ी दुविधा होती है। अनेक उपदेष्टा मिलते हैं, जो कहते हैं कि हमारे डेरे में आ जाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते हैं कि हमारा साहित्य पढ़ो। तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म में तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय ? धर्म-तत्त्व किसी शकल के पात्र में हो, अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय हैं, धर्म-पूर्वक वे सब सच

बनते हैं। धर्म-हीन होकर वे सब मिथ्या बन जाते हैं। जैसे जब तक आत्मा है तब तक अमुक नामधारी व्यक्ति की देह आदरणीय है। आत्मा निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहेगी। तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पा ली जाय, उतना ही अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामों के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये हैं, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहराते हैं।

पर देखने में आता है कि कहीं जैन-धर्म को ऐसा कस कर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमें से निचुड़ गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण बिरले नहीं हैं। वहाँ जैन-धर्म को धर्म के लिए माना जाता है। इस वृत्ति में सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदाय में भी ऐसी बातें मिलती हैं और सच यह है कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी बात कहूँ। मैं अपनी माँ का इकलौता बेटा था। चार महीने का था तभी पिता मर गये। माँ ही मुझे सब कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गई। अब आप मेरी हालत जान सकते हैं, पर कलेजे पर पत्थर रख कर मुझे यही करना पड़ा कि श्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊँ। मेरे लिए यह सुख की बात न थी; पर क्या आप लोगों में से कोई भी यह सलाह देने को तैयार है कि मुझे माँ की देह से चिपटा ही रहना चाहिए था, छोड़ना नहीं चाहिए था?

साम्प्रदायिक रूढ़ियों का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय तब तो ठीक, नहीं तो आग्रह से निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार में धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषों को भी भ्रान्ति होती देखी जाती है।

शुद्ध धर्म के मोह में उनको उन विशेषणों के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं; क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिए नहीं के जैसा है। इसलिए सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकान्त अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमेले में पड़ सकता है। उधर से पुकार सुनता है तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन में पड़े और तय करने चले कि कौन इनमें कम श्रेष्ठ है और कौन अधिक?

मैं मानता हूँ कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के चक्कर में पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह न मिलेगी और वह शब्द की भूल-भूलैया में भटक रहेगा, क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों में तुलना करने चलना एक अहंकार है और गलत है।

अरे भाई, धर्म वहाँ बाहर खोजे मिलेगा? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झाँको तो वहाँ से एक धीमी लौ का प्रकाश प्राप्त होगा। आत्मा की आवाज़ सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि अजी, कहाँ है वह आत्मा की आवाज़? हम सुनते हैं और कुछ सुनाई नहीं देता। वह भाई भी ग़लत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोड़नी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज़ कैसे सुनाई दे? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ़ से कान बन्द करने होंगे। तरह-तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे हैं। उन सब की तरफ से बहरे बन जाना होगा। जो बाहर दीख रहा है, उस पर आँख मूँद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता, वह सुनाई देगा और नहीं दीखता, वह दिखाई देगा। बस उसको

गह लीजिये और उसके पीछे जो भी छोड़ना पड़े, छोड़ दीजिए। जहाँ वह ले चले, चले चलिए। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म-पालन कर रहे हैं और धर्म के नाम पर जो जंजाल और दुकानदारी का पसारा फैला है, उससे बच सके हैं।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँ की आत्मा की बातचीत करते हो? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड़ जायगा? आत्मा तो वह छोड़ नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है? धन की कमाई आदमी के मरने के बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनवाईं। वे पाँच सौ वर्ष तक रहीं तो तब तक उसकी याद रहेगी; नाती-पोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है?

ठीक तो है। आते हुए हावड़ा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत बड़ा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना? सैकड़ों मन बोझ को गेंद की तरह यहाँ से वहाँ फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आसमान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती? फिर लड़ाई में हिटलर के बम याद कीजिये। एक-एक ऐसा कि हज़ारों को तहस-नहस कर दे और क्षण में भरी बस्ती वीरान कर दे। दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी जितना भी तो नहीं। फिर क्या धर्म? और क्या आत्मा? उस ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे वह निरी ख़ामख़याली ही नहीं है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित रुद्र सामने है, वह तो है और वह जो निराकार धर्म-तत्व की बात है, वह नहीं है। पर एक क्षण को मन सहम भी जाता हो, लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाभी घुमाता हुआ साढ़े-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन

कितना भी बड़ा हो वह उस नन्हे सचेतन आदमी के हाथ में जड़ की भाँति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहाँ हैं आज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु? और साम्राज्य और सत्ताएँ? आदमी ने अपने अहंकार में जो-कुछ खड़ा किया वह सब एक दिन खण्डहर बन रहा। पर बुद्ध और महावीर को हुए हज़ारों वर्ष हो गये और ईसा की आज यह बीसवीं सदी है। काल के इस गहन पटल को भेद कर इन महापुरुषों का सन्देश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वयं अमर हैं। कहाँ हैं सम्राटों के अतुल वैभव, महल-अटारी कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो? यह सब-कुछ धूल में मिल गया है। काल ने उसे लथेड़ डाला है। फिर भी उस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ प्रेम का सन्देश सदियों के अन्तराल से आज भी हमें सुन पड़ता है।

इसलिए धन की कमाई नहीं रहती, धर्म की ही कमाई रहती है, पर वह कमाई दीखती नहीं। धरती में का बीज भी कहीं दीखता है? पर अधीर उसका फल चाहता है। किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नज़र नहीं भी आता। अनातोले फ्रांस की एक कहानी है। उसमें दिखाया गया है कि ईसा जब ज़िन्दा थे तब वह एक आवारा उठाईगीर के मानिन्द समझे जाते थे। ग़रूर में मस्त अपने को ऊँचा मानने वाले लोग उन्हें हिक़ारत से देखते थे। लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या! उन्होंने तो अपने को प्रेम से भरा रखा। वह फाँसी चढ़ गये, पर फाँसी चढ़ाने वालों के लिए उनका मन करुणा से भरा रहा। आज फाँसी देने वाले वे अफसर कहाँ हैं? कौन उनको पूछता है? और ईसा को आज अवतार मानकर करोड़ों लोग गद्गद हो जाते हैं। यह धर्म की महिमा है या किसकी?

धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नहीं, भीतर

की आँख चाहिए, और घास की तरह जल्दी वह उग नहीं आता। इससे धर्म की श्रद्धा कठिन होती है। पर यही उस श्रद्धा की कीमत भी है। तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हें न पूछें, बल्कि उल्टे त्रास दें और हँसी उड़ावें तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है? उस श्रद्धा को भीतर जगाकर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है।

आज तो उसी श्रद्धा की मांग है। मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जा रही है। भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है। बाकी भ्रम। पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है। इस नास्तिक जीवन-नीति की एक बाढ़ ही आ गई है और घर-घाट उसमें बहता हुआ दीखता है। ऐसे में आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया।

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है। पश्चिम यों तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है, पर वह विनाश के आवर्त्त के किनारे भी पहुँच रहा है। उस जीवन-नीति में ज़ोर दिया जाता है 'अहं' पर। कहते हैं 'Develop personality' (व्यक्तित्व का विकास करो)। यह उनका मन्त्र है। पर इससे थोड़ी दूर बढ़ने पर ही स्पर्धा पैदा होती है। इस 'Developed personality' (बढ़े हुए व्यक्तित्व) का ज़ोर अपने ऊपर नहीं, दूसरे के ऊपर खर्च होता है। परिणाम होता है हिंसा और दमन और शोषण। वहाँ वासनाओं को उत्तेजन दिया जाता है, यहाँ तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है। इस नशे में समूह-के-समूह संगठित होते हैं और दूसरों को ललकार देते हैं। समझा जाता है कि वे बढ़ रहे हैं, पर पड़ोसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढ़ने वाली सभ्यता झूठी है। वह वृत्ति धार्मिक नहीं, अधार्मिक है। धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने। अपने को शून्य और अकिंचन मानते और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है।

सोचता हूँ कि इस दुनिया में सच्चा करिश्मा क्या है तो मुझे मालूम

होता है कि जहाँ सब अपने-अपने अहंकार में डूबे हैं, उस जगत् में सच्ची विनम्रता ही सबसे बड़ा करिश्मा है। जो कृतार्थ भाव से अपने को सबका सेवक बनाता है, वही धन्य है।

एक-दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे बढ़ने का रोग विलायत में है तो हिन्दुस्तान में भी है। हिन्दुस्तान में वह कम नहीं है। इस तरह सफलता भी पाई जाती-सी दीखती है, पर वैसी दुनिया की सफलता कोरा झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जयध्वनि करते हैं। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं। लेकिन महावीर ने तो राज-पाट छोड़ा और वन की राह ली। सुख का रास्ता तजा, दुःख का मार्ग पकड़ा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उलटी रीति उन्होंने अपनाई। वह रीति खुद दुःख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की, यानी अहिंसा की थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित में दुःख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का यही नहीं तो दूसरा क्या सार है?

धर्म तत्त्व यह है कि अहंभाव छोड़ो, सेवा-भावी बनो। परिग्रह या संचय मन में लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमें ममता परिग्रह है। समाज में आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसा कहाँ? धर्म कहाँ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों में धन का समान वितरण चाहता है। गाँधीजी अहिंसक हैं, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं हैं। इससे जब गाँधीजी कहते हैं कि ममता छोड़ो तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है? वह कहेगा कि तुमसे ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ हैं। मैं तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिये कि हमारे आस-पास भूखे लोगों की भूख मँडरा रही हो तो उसके बीच महल के बन्द कमरे में धर्म का पालन नहीं हो सकता।

धर्म कहता है कि धनिक अपने धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व-भाव नहीं माने।

कोई ज़रूरत नहीं है कि हम चाहें कि धनिक धनिक न रहें, पर धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिए। जिसके पास सोने का जितना अधिक बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड़ दें तो सोना आपका कुछ न बिगाड़ सकेगा, न फिर उससे दूसरे का ही अलाभ होगा, और तब फिर वह सोना जगत् का हित करेगा; क्योंकि धर्म के काम में लगेगा।

दूर क्यों जाइए, अपने ही पहले श्रीमन्तों को देखिए न। कोई भला उन्हें देखकर कह सकता था कि ये कोट्याधीश हैं? सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आन-बान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला जाता हो। दिखावा बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे धन है तो यह कौन बड़ाई की बात है? बड़ाई की बात तो त्याग में है।

अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है, पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी, यानी सच्चा धार्मिक, अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौड़ी नहीं खर्च करेगा। अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो, मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी ज़मीन हम चले हैं, उस पर फिर पीछे फिरकर एक निगाह डाल लें:—

पहली बात यह कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप में नहीं मिलती। बाहर खोज पर चलते हैं तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने-आप में मूल्यवान् नहीं है। वे तो पात्र की तरह हैं। धर्म का उनमें रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा में है। इन्द्रियों को वस में

करना है और आत्म-रूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों में आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात, जिस पर कि काफ़ी ज़ोर भी कम होगा, कि धर्म बोलने, जानने की चीज़ नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म तत्त्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गड़ा-गड़ाकर देखो तो क्या नतीजा होगा? उससे आँख ही अन्धी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को बहुत तर्क-वितर्क के जाल डालकर पकड़ने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमें पड़कर बुद्धि विलासिनी और निर्बल हो जाती है। परम तत्त्व को जानकर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देंगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों? शास्त्रार्थ क्यों? घण्टों उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना पचे, उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले लें। बौद्धिक ज्ञान तो अपने-आप में कोई सच होता नहीं है। बारीकी से देखें तो ज्ञान और ज्ञेय की पृथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर पृथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं, अर्थात् जहाँ ज्ञान रहे उतना भी अन्तर उनमें नहीं है। ज्ञानवान् वहाँ घुल रहता है, जैसे नोन की गाँठ पानी में गल रहती है।

यह सुन बुद्धिवादी (रैशनलिस्ट) मुझे सवालों से तोप सकता है, पर सवाल की कहीं शान्ति हुई है? शंका शान्त होगी तो बस श्रद्धा में। जो अनुभव की बात है, वह बहस की नहीं है, और समझकर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषयों में हमें नम्र और जिज्ञासु होकर चलना चाहिए।

पाँचवीं बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमें नहीं करने चाहिएँ, जैसे धन से करते हैं। धन में हमारी गरज़ चिपटी रहती है। पर धर्म

से बदला हम नहीं चाह सकते । यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी । धन के मोल जिस तरह चीजें खरीदी जाती हैं, वैसे धर्म के बदले भी हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहें तो यह ग़लती है । धर्म तो हमें अपनी ही असलियत देता है । इससे बड़ा और दूसरा लाभ क्या होगा ? यह धर्म को लजाना है कि हम उसके ज़रिये ऐश्वर्य बनाना चाहें या अपना प्रभाव बढ़ाना चाहें । यह तो हीरे से कौड़ी का काम लेने जैसा हो जायगा । महातत्त्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचें ? यह तो वैसे ही हुआ, जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हाँडी पकाना चाहें । ऐसे हाँडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे । इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध में हम सावधान रहें । उससे लौकिक प्रयोजन साधने की इच्छा हम तज दें । ऐसी इच्छा तो हमारी कंगाली का सबूत है और अज्ञान का भी ।

कवि ने कहा, 'कौड़ी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ?' धर्म वह लाल रतन ही है । पर मुट्ठी कौड़ी पर ही बँधी है तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा ? इसलिए लाल रतन लेने के लिए कौड़ी पर से मुट्ठी छोड़ देनी होगी । आप लोगों में बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के स्वामी होंगे । धर्म पाना चाहते हैं तो उस पर से आपको मुट्ठी छोड़ देनी होगी । मुट्ठी छोड़ने से वस्तु थोड़े छूटती है । यह तो भ्रम ही है । पर दोनों हाथ लड्डू का भरोसा मैं आपको देने वाला नहीं हूँ । या तो अहं-गर्व रखिये, या धर्म रखिये । धर्म रखकर आप अपने लिए नहीं रह जाते, सब के लिए हो जाते हैं । उसके लिए अन्दर की वासनाओं को, स्वार्थ-ईर्ष्या को, मताग्रहों को, गिरोहबन्दी को सब को छोड़ देना होगा । लेकिन छोड़ने से आप घाटे में न रहेंगे, क्योंकि छोड़कर वह वस्तु आपको मिलेगी, जिसकी कीमत अकूत है । वह है आपकी 'आत्मा' अपने को खोकर सारे जगत् का राज पाया तो क्या पाया ? क्योंकि तब वह धूल बराबर भी नहीं है ।[1]

---

१. भाषण, पर्यूषण, व्याख्यानमाला, कलकत्ता ।

युद्ध

जीवनकर्म क्या है ? सोचता हूँ तो एक ही उत्तर मिलता है : युद्ध, जीवन युद्ध है।

युद्ध से घबराना जीवन से बचना है। वे शान्तिवादी जो युद्ध से किनारा रखने की सीख देते हैं और युद्ध से ही युद्ध करने आगे नहीं आते, वे शान्ति के वादी ही हैं, उसका मूल्य चुकाना नहीं चाहते। शान्ति के वे तत्पर आचरणी नहीं हैं, उसके सिपाही नहीं हैं। अर्थात्, वे शान्ति ला नहीं सकते। वे अशान्ति से डरते हैं और उससे लड़ नहीं सकते। शान्ति न-कार नहीं है। जो अशान्ति को चुनौती नहीं दे सकती, वह कैसी शान्ति ? शान्ति दास नहीं योद्धा चाहती है। और वह शान्ति का चोर है जो युद्ध से आँख चुराता है। घर में अपने को बन्द कर कोई शान्ति-सेवी नहीं हो सकता। बाहर द्वेष की आग है, इसलिए अपने ऊपर किवाड़ बन्द कर जो भीतर विरागी बन बैठता है, वह विरागी नहीं है, कायर है। इसी तरह जो चारों तरफ जलती हुई कलह की आग से, शान्ति की ओट और शान्ति के सपने ओढ़ कर, और उनमें बन्द होकर अपने को बचाता है, वह अपने को धोखा देता है। शान्ति अपने सेवक से बात नहीं, काम चाहती है। वह उत्सर्ग चाहती है। जो आराम नहीं तज सकता, एडीटरी और लेखकी की सुरक्षित आलोचना छोड़ कर घमासान में नहीं आ सकता, वह शान्ति को भी कैसा चाहता है ? वह

तो अपने तन की ही रक्षा चाहता मालूम होता है। लेकिन शान्ति उसी को पहचानेगी जो अशान्ति की ललकार लेगा, उससे मोरचा लेगा। जो योद्धा नहीं, वह सेवक नहीं। वह प्रेम का अधिकारी भी नहीं। प्रेम का रास्ता खतरे का रास्ता है। प्रेमी योद्धा तो है ही। उस योद्धा से सब-कुछ माँग लिया जायगा और बदले में आश्वासन भी उसे नहीं दिया जायगा। उसका सहारा होगा बस प्रेम। इधर-उधर और कुछ नहीं। उतने ही को सँजोए रखकर बिना किसी प्रत्याशा के वह अपना तन-मन दे सके तो ठीक है। ऐसा नहीं तो वह प्रेमी नहीं। और शान्ति भी अपने प्रेमी से यह सब उत्सर्ग माँग लेगी। जो अशान्ति से लड़ने में अपनी जान तक खोने को तैयार नहीं है, वह शान्ति के समर्थकों में नहीं गिना जायगा।

इससे जीवन को जो आराम मानते हैं, वे जीवन को नहीं जानते। वे जीवन का स्वाद नहीं पाएँगे। जीवन युद्ध है, आराम नहीं। और अगर आराम है तो वह उसी को प्राप्य है जो उस युद्ध में पीछे कुछ न छोड़ अपने पूरे अस्तित्व से उसमें जूझ पड़ता है। जो सपने लेते हैं वे सपने लेते रहेंगे। वे आराम नहीं आराम के ख्याल में ही भरमाए रहते हैं। पर जो सदानन्द है, वह क्या सपने से मिलता है? आदमी सोकर सपने लेता है। पर जो जागेगा वही पाएगा। सोने का पाना झूठा पाना है। सपना सपने से बाहर खो जाता है। असल उपलब्धि वहाँ नहीं। इससे मिलेगा वही जो कीमत देकर लिया जायगा। जो आनन्द रूप है, वह जानने से जान लिया नहीं जायगा। उसे तो दुःख-पर-दुःख उठा कर उपलब्ध करना होगा। इसलिए लिखने-पढ़ने और मनन करने से उसकी स्तुति-अर्चना ही की जा सकती है, उपलब्धि नहीं की जा सकती। उपलब्धि तो उसे होगी जो जीवन के प्रत्येक क्षण योद्धा है, जो अपने को बचाता नहीं है, और बस अपने इष्ट को ही जानता है; कहो कि जो उसके लिए अपने को भी नहीं रखता है।

पर कैसा योद्धा? हाथ में कटार ली और चार-छः के गले काट

लिए, ऐसे आदमी भी योद्धा कहलाते हैं। इतिहास अधिकतर ऐसों को ही जानता है। शूरता और वीरता के नाम पर एकाएक वैसी ही तस्वीर सामने उठती है। और आज तो वह भी नहीं। आज तो बिना देखे और दीखे गोले बरसाए जाते हैं और तोप-बन्दूक चलाई जा सकती हैं। आधुनिक वीरता कुछ ऐसी ही चीज है। लेकिन इस वीरता में भय भी मिला हुआ नहीं है, यह मैं नहीं कह सकूँगा। दुश्मन का डर अन्दर-ही-अन्दर मन को दबोचे रहता है। और उस अन्दरूनी भय का सामना करने के लिए एक बना हुआ साहस, जिसमें नशा रहता है, हठात् पैदा कर लिया जाता है। वह नशा तलवार चलवाता है, और गोले फिकवाता है। ऐसा व्यक्ति खुद आतंकित होता है और आतंक उपजाने को ही जीत जानता है। वैसे अमानुषीय साहस को ऊपर से देखने वाले शूरता और वीरता कह देते हैं। दुबक रहने वाले कायर के मुकाबले तो वे भी वीर हैं ही। पर क्या शब्द के पूरे अर्थ में उन्हें योद्धा कहा जा सकता है? नशा उतर जाने पर क्या वह दयनीय ही नहीं दीख आएँगे? ऐसी लड़ाई लड़ने वाले नित्य के जीवन में बात-बात पर अपमानित होते और आत्मा बेचते हैं। बारह-पन्द्रह रुपए का सिपाही जो लड़ाई में अजब विक्रम दिखाता है, लड़ाई के अभाव में क्या वह काहिल, झगड़ालू, डरपोक और पालतू ही नहीं दीखता? क्या उसका पराक्रम सच्चा होता है? क्या उसके मूल में एक नशा ही नहीं होता?

जो मारता है उसको कोई योद्धा कहे, तो मैं उसे बहस का मौका न दूँगा। हरेक को हक है कि जहाँ से उसे स्फूर्ति मिले वहाँ से ले। जिसमें चाहे, उसी में श्रद्धा रखे। बहस इसमें बेकार है। लेकिन अगर विवेक भी कोई चीज है तो मैं कहना चाहता हूँ कि जो बिना मारे युद्ध में डटा रहता है जो अपने को दुश्मन मानने वाले को मित्र मानता है और उसकी दुश्मनी को अपनी अखंड मैत्री से झेलता है, वह प्रवीणतर योद्धा है। प्रवीणतर, और अधिक साहसी, और अधिक विवेकी और अधिक बलवान।

लेकिन करना कहने-सा सीधा नहीं है। जो हमारे खून का प्यासा है उसमें से खून की प्यास निकल जाय और उसमें स्नेह की प्यास पैदा हो आए, यह काम खेल नहीं है। यह दुस्तर-से-दुस्तर है और इसके लिए अविराम और दुर्धर्ष युद्ध की योग्यता वाले योद्धा की ज़रूरत है। इतिहास के युग-युग और देश-देश में बहुतेरे लोग स्पर्द्धापूर्वक बढ़कर इस मोरचे को लेने पहुँचे; लेकिन बिरले वहाँ ठहर सके। असंख्य बीच में टूट गये और दुश्मन के हाथों खेत रहे। इस युद्ध में दुश्मन की उसी क्षण विजय हो जाती है जिस क्षण कि योद्धा में दुश्मनी का खयाल भी आ जाता है। मैं मानता हूँ कि जिसने यह युद्ध जीता, उसे फिर जीतने को कुछ भी बाक़ी नहीं रह गया। और जीवन में कर्म शेष है तो इसी-लिए कि इस युद्ध में अभी विजय पाना हमारे लिए शेष है। इसके अतिरिक्त और कुछ करना-धरना नहीं रह जाता।

लेकिन शब्दों को लेकर हम भाग न छूटें और न उड़ें। न समझ लिया जाय कि व्यक्ति अन्तिम सत्ता है और उसकी अपने में अलग कोई मुक्ति हो सकती है। मरता आदमी अपने से है, जीता साथ-साथ है। मौत को छोड़ कहीं वह अकेला नहीं है। सो मुक्ति अगर है तो सबकी साथ है। इससे ऊपर व्यक्तिगत आदर्श की स्थापना नहीं की गई है। व्यक्तिगत भाषा का प्रयोग हाँ अवश्य है। व्यक्ति इकाई है और जो चेतना मानवतल पर हमें प्राप्त है, उसमें इस इकाई के आधार से छुट्टी तो पूरी तरह है हो नहीं, इस मर्यादा को किसी वाद में कृपया हम न भूलें।

युद्ध की परिभाषा में ही जीवन का देखना क्यों ज़रूरी है, उसका कारण है।

उस कारण को तात्त्विक रूप में तो यों कहिए कि दो-एक तब तक तक नहीं हो सकते, जब तक वे अपने दो-पन को, यानी अपने ही भीतर के और आपस के द्वित्व को जीत नहीं लेते। हरेक को अपना अपनापन ही सिद्ध है। लेकिन वह अपनापन हरेक की मर्यादा भी है। गति का

अर्थ विस्तार है। विस्तार में अपनी ही मर्यादाओं के प्रति असन्तोष और युद्ध गर्भित है। जहाँ ऐसा असन्तोष और युद्ध नहीं, वहाँ जीवन भी फिर नहीं है। वहाँ प्रगति, उन्नति, विस्तार, सबके द्वार बन्द हैं। जीवन का लक्षण है विस्तृति की निरन्तर चेष्टा, निरन्तर गति। गति की सम्भावना में विरोध और युद्ध आ ही जाता है।

इसी तात्त्विक बात को व्यवहार के तल पर प्रत्यक्ष बनाकर हम समझ सकते हैं। जिसके पास निषेध के लिए कोई आधार नहीं रह गया है, सब ग़लत मानो उसके लिए सही भी है और सब सही ग़लत; जिसमें पृथक्करण की विवेक शक्ति नहीं रह गई है; जो समन्वय में अन्वय की शक्ति खो बैठा है; जो किसी का वर्जन और किसी (बात) का आग्रह स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा व्यक्ति एकदम निष्क्रिय और जड़वत् रहता है। वह सूखकर बेकाम हो जाता है।

और 'धर्म' में इस तरह का ख़तरा खूब है। धर्म की आधार रूप है वह चेतना जो खण्ड में अखण्ड के लिए बीजभूत है। इससे धर्म का मूल है विद्रोह का त्रास और ऐक्य की प्यास। जीवन एक है। जो अखिल है वह ईश्वर। वही है और मैं वह हूँ : 'सोऽहं'—धर्म का मूल इस अनुभूति को आत्मसात् करने की अमर प्यास है।

लेकिन इस अमूल्य अनुभूति के साथ खेल नहीं हो पायगा। इस बारे में अतिशय ईमानदारी भी कम हो सकती है। ज़रा मोह इस जगह आदमी को नरक में डाल देगा, स्फूर्ति की जगह उसमें जड़ता ला देगा। यह अनुभूति-सुलभ होती तो बात ही क्या थी। इसलिए इन (और ऐसे) शब्दों के साथ अत्यन्त सतर्क और सावधान होकर बरतना चाहिए, यहाँ शब्द शब्द नहीं रहते, आग हो जाते हैं। वे जला दे सकते हैं। और जिसके लिए वे शब्द शब्द ही रह रहे हैं, फिर भी जो उनका व्यवहार करता है, वह कोरा व्यापार रचता है। वह पाखण्डी है। उन शब्दों के साथ अत्यन्त विनम्र रहना होगा। 'सोऽहं' पद मान भर लेने के लिए नहीं है। वह तो साधना का इष्ट है। उसमें तो आशय है कि

मुझे वह (यानी, उसके जैसा और निकट) प्रतिक्षण होते रहना चाहिए। अगर 'सोऽहं' भाव मेरे ऊपर सवार हो जाता है, साधना का अन्त नहीं बल्कि एक व्यामोह बन जाता है, तो उससे ज़बरदस्त अनर्थ होकर ही रहता है। ऐसे व्यक्ति में गति बन्द हो जाती है और जीवन मूर्च्छित हो जाता है। और मूढ़जन उसके उदाहरण से और भी मतिमूढ़ बनते हैं।

ईश्वर और सत्य की खोज में निकल पड़े हुए अनगिन व्यक्तियों के साथ, अथवा उनके उपलक्ष से, ऐसी ही दुर्घटना घटित हुई है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को आत्मा के भीतर क्रमशः उत्तरोत्तर उपलब्ध न करके उन्होंने हठात् सब को एकाकार देखने के आग्रह में कर्म-अकर्म के अन्तर को ही अपनी विवेक-शक्ति में से लुप्त कर लिया है। ऐसे लोग कठोर तपसी हो गये हैं। जग उन पर विस्मित होता हो, लेकिन असल में तो ऐसे विमूढ़ता ही हाथ लगती है। ऐसे लोगों ने उस राह स्वयं चैतन्य का लाभ कर पाया, अथवा चैतन्य प्रदान किया, इसमें मुझे भारी सन्देह है।

उन्होंने जीवन-सम्बन्धी अपनी धारणाओं में युद्ध-तत्त्व के लिए अवकाश नहीं छोड़ा। उन्होंने हठात् चाहा कि वे ऐक्य प्राप्त करें; लेकिन अनैक्य को, जो उनके भीतर था, उन्होंने ललकार नहीं दी। उससे युद्ध नहीं किया; बल्कि उसे पुष्ट किया। सूफ़ी और वेदान्ती कवि लोग ऐक्य के ऐसे स्वप्न में खो गये कि उस स्वप्न को तत्पर आचरण द्वारा सत्य करने की आवश्यकता की सुधि उन्हें न रही। परिणामतः उनका जीवन, निर्दोष तो वह रहा भी होगा, पर वेगवान् और सशक्त नहीं हुआ। पराक्रम उनमें नहीं दीखा। समाज ने कोई स्फूर्ति और प्रेरणा उनसे नहीं पाई। उनकी जीवन-नीति में युद्ध-तत्त्व की कमी रह गई।

बुराई है, अनीति है—उसको अस्वीकार करने के लिए ही हम हो सकते हैं। अस्वीकार करना, यानी जिसको बुराई और अनीति माना है उसके आगे कभी न झुकना, यह हमारी स्थिति का आधार है। अगर हमारे लिए बुराई कुछ नहीं रह गई है और बुरा कुछ नहीं रह गया है,

तो हमारे होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह अवस्था तो व्यक्ति की नहीं आदर्श की है। परमात्मा की यह स्थिति है। उस आदर्श लोक में तो असत् को भी सत् और पाप को भी धर्म ही थाम रहा है, यह असन्दिग्ध है। पर वह कैसे थाम रहा है? पाप में धर्म और असत् में सत् कैसे व्याप्त हुआ है?—इसका जवाब पा लेना मानव नहीं रहना है, ईश्वर बन जाना है। इस प्रश्न का हठात् उत्तर देने का उत्साह छूटता है और बुद्धि का विकार है। वह भयंकर है। वह प्रश्न सदा के लिए प्रश्न है। जब तक काल है, तब तक वह है। किसी उत्तर से उसका मुँह बन्द नहीं हो सकता। जीभ से उसका उत्तर दे डालना, अथवा बुद्धि द्वारा समाधान पा लिया जैसा अपने को समझ लेना, अनर्थकारी है। मोक्ष में सच्चा उत्तर और सच्चा समाधान है और मोक्ष से पहले कहीं वह उत्तर भी नहीं है।

जब तक व्यक्ति है तब तक उसके लिए असत् रूप कुछ-न-कुछ है। इसलिए सत्‌रूप धर्म व्यक्ति के लिए हमेशा युद्धमय होता है। असत् से युद्ध, पाप से युद्ध, अन्धकार से युद्ध, अनात्म से युद्ध।

युद्ध इसलिए धर्म है कि हम अपूर्ण हैं। और इसलिए धर्म है कि सम्पूर्ण हमें होना है। जो युद्ध से बचा, वह या तो मोहयुक्त है और अपनी अपूर्णताओं से असन्तुष्ट नहीं है, या इतना जड़ है कि सम्पूर्णता की अभिलाषा उसमें नहीं है।

इसलिए बड़े-से-बड़े के लिए अनन्त काल तक प्रार्थना का अवकाश है और यह आग्रह ख़तरे से भरा है कि मैं वह हूँ, क्योंकि वह मैं है; और क्योंकि वह ईश्वर सब-कुछ है, इसमें मैं सब-कुछ हूँ। इस तरह व्यक्ति युद्धधर्म से च्युत होता है। वह मानव-विलक्षण भले हो जाय, मानवोत्तम नहीं हो सकता।

किन्तु युद्ध धर्म है तो तभी जब वह धर्मयुद्ध हो, अर्थात् वह प्रेम से लड़ा जाय। जो प्रेम से नहीं लड़ा जाता, वह युद्ध खरा नहीं है और शाश्वत भी वह नहीं है। उससे थकान चढ़ती है और अवसाद हो आता

है। अप्रेम वाले युद्ध के लिए नशे वाला उत्साह चाहिए। नशा उतर जाने पर उससे अरुचि होने लगती है। वैसे युद्ध में विवेक नहीं निभता और उसमें लड़ने वाले का अन्तःकरण, चाहे नशा कितना ही तीव्र हो, भीतर-ही-भीतर उसे कचोटता रहता है। इसलिए खूनी युद्ध का योद्धा पूरा निर्भय नहीं हो सकता। वह औरों की जान लेने के बारे में क्रूर हो सकता है, पर अपनी और अपनों की जान जाते वक्त वह घबराए बिना नहीं रह सकता। अपनी और अपने पुत्र कलत्र की मौत को अडिग भाव से सहने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। ऐसे वक्त वह हिल ही आता है। ज़रूर कोई मौक़ा आता है जब नशे पर टिकने वाला उसका युद्धोत्साह टूटकर धूल में मिल जाता है और उस समय वह बेहद दयनीय हो आता है। बड़े-बड़े शूरवीर समझे जाने वालों की जीवनी में इस सचाई के प्रमाण मिलते हैं। मारने की शक्ति में बढ़ा-चढ़ा हुआ योद्धा, एक जगह आकर सब सुध बुध बिसार रहता है और अपनी मौत के आमने-सामने होकर उसका योद्धापन नहीं टिक पाता। ऊपर की अकड़ चाहे तब भी बाक़ी रहे; लेकिन भीतर से वह कातर बन आता है।

परन्तु जो युद्ध को धर्मयुद्ध बनाकर उसमें जूझता है, जो बुराई से इस निमित्त लड़ता है कि बुरे समझे जाने वाले को मन से प्रेम करता है, ऐसा योद्धा हार कर भी नहीं हारता, और जीतकर भी नहीं फूलता। मौत उसके लिए हिसाब की चीज़ ही नहीं है। जैसा जीना वैसा मरना। वह जीवन के लिए मौत स्वीकार करता है और मौत को अन्त नहीं मानता। वह दूसरे के हित में अपने को इतना अर्पित कर देना चाहता है कि अलग होकर स्वयं कुछ रहे ही नहीं। उसका युद्ध कभी नहीं चुकता और थकने की, या हटने की, या रुकने की उसे पल की भी छुट्टी नहीं है। वह पैसे का योद्धा नहीं, प्रकृति का योद्धा है और सोते जागते हर घड़ी उसकी ड्यूटी है। युद्ध वही असली है जो जाने कब से हो रहा है। समूचा इतिहास उसी का इतिहास है। उसमें विराम नहीं, अन्तराल नहीं। आत्म से अनात्म का वह युद्ध है। प्रत्येक का जीवन मानो

उसी का परीक्षण है। जीवन में हरेक की उतनी ही सार्थकता है, जितनी दूर वह उस युद्ध को आगे तक ले जाता है। योद्धा गिरते हैं, दाएँ-बाएँ हर घड़ी वे साँस लेते और छोड़ते जा रहे हैं। लेकिन युद्ध कब रुकता है ? वह चलता ही जाता है।

युद्ध धर्म है और जीवन कुरुक्षेत्र है। वही कुरुक्षेत्र फिर धर्मक्षेत्र है। युद्ध से विहीन धर्म विलास है और धर्म से हीन युद्ध नृशंसता है। युद्ध वाला धर्म और धर्म वाला युद्ध व्यक्ति के साथ शाश्वत भाव से लगा है। जो युद्ध धर्म से अलग हो जाता है, या जो धर्मयुद्ध से जी चुराता है, वे दोनों ही सदोष हैं। लेकिन जहाँ दोनों का समुच्चय और समन्वय है, वहाँ सचाई है और वही जीवन की सिद्धि का मार्ग है।

निषेध बहुत आवश्यक है। एकदम ज़रूरी है कि ज़हर को हम ज़हर जानें और न खायँ। अमृत और विष में अन्तर है, और उस वक्त तक रहेगा, जब तक कि हम ही व्यक्ति से कुछ और नहीं हो जाते। भेद-मात्र माया है और अभेद ही सत्य है, यह मानकर अमृत और विष में भेद करने से छुट्टी आज हम नहीं ले सकते। वह अवस्था जहाँ विष में विष-पन न रहेगा और जहाँ अमृत को अमृत समझने की आवश्यकता अशेष हो जायगी, वह ब्रह्मलीनता की अवस्था है। कल्पना से सम्भव हम उसे मान सकते हैं और साधना की उत्तरोत्तर पूर्णता से उत्तरोत्तर सत्य भी उसे बना सकते हैं; लेकिन अपने को भूलकर हठात् उसे इसी क्षण हम नहीं अपना सकते। ऐसा करना जान खोना है।

और ऐसा किया जाता है। चेतन होकर मानो आयास-पूर्वक लोग हैं जो जड़ बनते जाते हैं। जगत् मिथ्या है, वास्तव सब माया है—यह कह कर उस वास्तव जगत के परिबोध से वे अपने को मूँद ले रहे हैं। इन्द्रियों को कुचल रहे हैं जिससे कि जगत का बोध ही उन्हें न व्यापे ! लेकिन यह अनिष्ट है। इससे जगत नहीं मिटता। अपनी बोध-शक्ति ही हस्व होकर मिट्टी हो रहती है।

इससे सन्यास कर्म से सन्यास नहीं है और कर्म मात्र युद्ध है।

युद्ध मन में स्फूर्ति भरता है। वह हमको एक लक्ष्य देता है। उससे चैतन्य उभरता है। रगों में फड़क पैदा होती है। उसको सामने लेकर शक्ति और विवेक जागता है।

नहीं तो मन सुस्त हो रहता है। करने योग्य कुछ लगता नहीं। कल्पना में विलास मालूम होता है और इस तरह धीमे-धीमे उस कल्पना की भी सृजनशक्ति नष्ट हो जाती है। रस जीवन में सूखता जाता है। और प्रतीत होता है कि जो है वही होनहार था और जो होन-हार है वही होगा। यह कि हम होनहार को स्वयं लाने और करने में सक्रिय रूप से सहभागी हैं, यह चेतना मन्द हो जाती है। हम भाग्य-वान नहीं, भाग्याधीन बनते हैं स्वावलम्बन हमसे खोजाता है और भवितव्य पर आस लगाये बैठना शेष रह जाता है। जो भाग्य को सहारा नहीं देता, उसके सहारे की आस में रहता है, वह निश्चय भाग्यहीन है। भाग्य तो है, असल में वही है। लेकिन वह हमारा कब नहीं है? और अगर वह हमारा है तो हमारा उस भाग्य के साथ सम्बन्ध निष्क्रिय नहीं हो सकता है। भाग्य इतिहास को बनाता है, या इतिहास ही भाग्य का रेखाचित्र है, या कुछ कह लो, इतिहास युद्ध की कथाओं से भरा पड़ा है। जो भाग्य को मानता है और जानता है, अगर उसका मानना और जानना सच्चा है तो वह व्यक्ति ऐतिहासिक और योद्धा हुए बिना कैसे रहेगा? वह पुरुष युद्धमय होगा और भाग्यमय होगा। भाग्यमय, यानी मानवीय इतिहास की दृष्टि से भाग्यविधाता।

न्याय

हमारे बीच में एक संस्था है न्याय। वैधानिक उसका स्वरूप है लॉ—कोर्ट यानी अदालत। यह संस्था मनुष्य-समाज में सन्तुलन को कायम रखती है। अपराध की जाँच-परख करती है और उससे समाज को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करती है। उस संस्था की पीठ पर शासन की ओर से पुलिस की शक्ति है और कानून की शक्ति है। जज और वकील उसी संस्था के सेवक-सदस्य हैं।

यह संस्था शासन-सत्ता (State) की आधार-स्तम्भ है। फिर भी मानो उस संस्था को शासन (Executive) से कुछ अछूता और ऊपर रखा जाता है। कहा जाता है कि न्याय के आगे सब मनुष्य समान हैं। राजा की भी वहाँ वही हैसियत है जो प्रजा की हैसियत है। कानून के आगे ऊँच-नीच का भेद नहीं है।

पर चूँकि सिद्धान्त अपने आप काम नहीं करते, मनुष्यों की मारफ़त व्यवहार में लाये जाते हैं, कानून के पक्ष का यह दावा असली अर्थ में कभी पूरा नहीं होता। इसलिए न्याय की वैधानिक संस्था सम्पूर्ण और शुद्ध न्याय नहीं करती; बल्कि मुख्य शासन का समर्थक न्याय करती है। शुद्ध न्याय तो अपने से बाहर किसी का समर्थक है नहीं। वह धर्म का अंग है।

इसलिए देखने में आता है कि मनुष्य जाति के वैधानिक न्याय को

समय-समय पर बदलना पड़ा है और उसमें ऐसे लोगों को अपनी जानें दे-देनी पड़ी हैं जिनको इतिहास ने पीछे जाकर मनुष्य जाति का उपकर्ता और आदर्श पुरुष माना है।

अर्थात् वैधानिक कानून के ऊपर भी कोई क़ानून है जिसकी ओर वैधानिक क़ानून को बढ़ते रहना होता है और उस ऊपर वाले क़ानून के आदेश पर वैधानिक क़ानून की अवज्ञा तक हो सकेगी।

इसी बात को समझ कर देखें। देखें कि न्याय कैसे सम्पादित होता है।

एक मित्र जज हैं। मैंने उनसे पूछा कि आप अपराधी को सज़ा देते वक्त यह फैसला कैसे करते हैं कि अमुक को छः महीने की जेल न दे कर एक साल की या तीन महीने की जेल देनी चाहिए?

उनका उत्तर था कि इधर आकर तो वह छः महीने या तीन या बारह महीनों की जेल को अपने मन में कुछ तौलने की ज़रूरत नहीं पाते हैं। शुरू में ज़रूर चित्त इस बारे में सावधान रहता था। ऐसा मालूम होता था कि सज़ा देकर मन पर कुछ बोझ ले लेना होता है। उस वक्त तीन और छः महीने में सचमुच दुगने का फ़र्क़ मालूम होता था, लेकिन अब तो एक आदत है और मन उस पर ठहरता ही नहीं। सिर्फ़ सूझ की बात है। तीन सूझ गये तो तीन महीने, छः सूझ गये तो छः महीने। काम इतना रहता है कि हम किसी एक केस पर रुक नहीं सकते भाई।

मैंने कहा कि क़ैदी के दिन जज के दिनों जैसे नहीं होते। क़ैदी के एक दिन में वज़न होता है। जज के दिन इतने हलके हो सकते हैं कि बेहद। मैं क़ैदी रह चुका हूँ, इसलिए कहता हूँ। जेल से बाहर की जजी में उन दिनों के भार का अनुमान नहीं हो सकेगा।

जज बोले कि हाँ, यह सही हो सकता है। लेकिन न्याय करते समय हमें वह सब ख्याल रहने का मौक़ा नहीं है।

मैंने कहा कि क्या अभियुक्त की इन्सानी हैसियत का उस वक़्त

आपको ध्यान रहता है ? उसके बाल हैं, बच्चे हैं, सुख-दुःख मानने वाला मन है, परिवार है। ठीक जैसे हम-आप इन्सान हैं, वैसे ही वह है यह ध्यान आपको रहता है ?

उन्होंने कहा कि इधर आकर तो बिल्कुल उस तरह का ख़्याल नहीं आता। बल्कि अभियुक्त होकर व्यक्ति व्यक्ति रहता ही नहीं। वह एक अदद, मानो एक अङ्क हो जाता है।

मैंने कहा कि फिर तो वह न्याय नहीं हुआ !

उन्होंने कहा कि जो हो, अदालत वाला न्याय उससे ऊँचा नहीं है। और दैवी-न्याय की बात करने से यहाँ दुनिया में फ़ायदा क्या है ?

मैंने सुझाया कि अभियुक्त बन कर मैं आपकी अदालत में पहुँचूँ तो क्या मेरी इन्सानी हैसियत किसी तरह भी आपके मन में हिसाब के हिन्दसे जैसा शून्य हो सकती है ? आपकी स्त्री मेरी स्त्री को जानती है; बच्चे साथ रहे हैं; हममें दोस्ती है। मैं तो आपके लिये एक अङ्क जैसा नहीं हो सकता न ? इससे क्या यह ठीक है कि अदालत के आगे सब अभियुक्त समान हैं ?

मित्र बोले कि क़ानून में सब समान हैं। लेकिन मनुष्य तो मनुष्य हैं।

ख़ैर, उस समय से मैं जानता हूँ कि क़ानून और न्याय के आगे सब मनुष्य एक समान नहीं हैं। जज की बराबरी की हैसियत का आदमी जज के मन में जो हमदर्दी पैदा करेगा, निम्न वर्ग के लिए जज में वह सहानुभूति न होगी। समाज के एक विशेष वर्ग के लिए जज में अपने-पन का भाव रहता है। उस वर्ग के अभियुक्त के लिए उसके मन में संवेदन है। उससे नीचे वाले वर्गों के आदमियों को वह आदमी तक माने बिना अङ्कों के समान उनका निबटारा कर सकता है। विधान एक मशीन है। उसकी माँग है कि जज दिन में बीस या पचीस या इतने केस निबटा दे। सो गिनती की तरह वह उन्हें पूरा करता है। पर क्या इस विधि से न्याय पूरा होता है ?

पर जो हो, इस प्रकार के न्याय से भी समाज को चलने में सुविधा होती है। ऐसे व्यवस्था तो रहती है। नहीं तो बन्ध टूट जाएँ और काम फिर कोई हो भी तो न सके। आखिर न्याय को भी दुनियावी हिसाब निबाहना होगा। एक साल में इतने हज़ार केस हैं और इतने दर्जन जज हैं, तो हिसाब से मालूम हो सकता है कि हर जज के पीछे एक दिन में कितने का औसत पड़ा। जज इतना काम पूरा न करे तो दुनिया का हिसाब उलझ जायगा कि नहीं ?

इन्साफ़ की जो अदालतें बैठी हुई हैं, बेशक उनका काम रुक जाना तो इष्ट नहीं है। लेकिन मुझे कहना है कि यह देखते रहना बहुत आवश्यक है कि उनसे अधिकाधिक न्याय मिलता है, ख़ानापूरी ही नहीं होती। तदनुकूल उस संस्था का अङ्ग नहीं, पर विकास तो चाहिए।

और विकास की दिशा है कि मुजरिम और मुन्सिफ दोनों में सामाजिक हैसियत की विषमता न समझी जाय, न रहने दी जाय। उनमें समकक्षता हो। उससे आगे, भरसक, दोनों परस्पर निकट-परिचित हों बल्कि भाई-भाई सरीखे हों।

जहाँ जज की कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति परिस्थितियों के कारण लगभग बाध्य हो कि वह अभियुक्त के कठघरे में खड़े हुए आदमी को बिलकुल जान और समझ न सके; जहाँ उन दोनों के बीच ऐसी गहरी सामाजिक विषमता की खाई खुदी हो अथवा कि जहाँ न्याय की संस्था को इतना अधिक केन्द्रित बना दिया गया हो, वहाँ न्याय के न्याय रहने की सम्भावना कम होती जाती है। यहाँ तक कि ऐसी हालत में अदालत सरकार का अङ्ग ही हो जाती है, उस पर यह अंकुश की तरह बिलकुल काम नहीं करती। यह न्याय और शासन दोनों का अपमान है।

न्याय के न्याय होने के लिए आवश्यक है कि वातावरण में सहानुभूति हो और भाई-चारा हो। वर्ग-वर्ग के बीच आर्थिक-विभाजन की, रहन-सहन की और रीति-नीति की समता हो। जज जिस समाज का

है, अभियुक्त उसी समाज का अङ्ग हो। अर्थात् न्याय के लिए सामाजिक परिस्थिति ऐसी हो कि अभियुक्त के प्रति जज में संवेदन शून्यता की सम्भावना कम-से-कम हो। मनुष्य पदार्थ नहीं है और जब पदार्थ की तरह उससे व्यवहार किया जायगा, तब मनुष्यता नहीं बढ़ेगी और सुव्यवस्था का बढ़ना भी भ्रम होगा।

इस लिहाज से वैधानिक क़ानून की धाराओं की गिनती और मुटापा बढ़ने से न्याय की जटिलता तो बढ़ती हो, और चाहे उसकी महिमा भी बढ़ने सरीखी मालूम हो, पर इससे उसकी उत्तमता नहीं बढ़ती। वह ऐसे दुर्लभ होता है। और जिसमें भीतर संवेदन नहीं है, वह न्याय होकर भी न्याय नहीं है।

अभियुक्त की जगह जो प्राणी खड़ा है, उसके नित्य-नैमित्तिक सामाजिक जीवन की परिस्थिति को अनुभव द्वारा समझे बिना उसके सम्बन्ध में कोई न्याय कैसे किया जा सकता है, मेरी समझ में नहीं आता।

उसी तरह यह भी आवश्यक है कि जज जिस जेल में अभियुक्त को भेजता है, अनुभव द्वारा वह वहाँ के क़ैदी के जीवन को जानता हो। उस जीवन को बिना जाने जो जेल की सज़ा दी जाती है, वह अपराधी की अपराध-वृत्ति को कम नहीं कर सकती। बल्कि, जैसा देखा जाता है, उसकी जड़ों को मज़बूत ही करती है। जेल से निकलकर जो और भी पक्का अपराधी नहीं बनता, वह नहीं बनता तो सिर्फ डर के मारे। भीतर से तो उसके सदा के लिए ही अपराधी रहने की सम्भावना बढ़ जाती है। और जो केवल भय के कारण अपराध-कर्म से रुका रहता है, उसमें नागरिकता का विकास नहीं हो सकता। वह हमेशा के लिए ख़तरा है। नागरिकता का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक पड़ोसी के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन। वह न्याय जो व्यक्ति में उस कर्त्तव्य की सम्भावना को नहीं बढ़ाता, केवल रोक-थाम करके अपराधों की गिनती को बचाता है, वह न्याय नहीं है। वह तो पुलिस के हाथ मानवता को सौंप देता है।

जज को पुलिस-इन्सपेक्टर का काम करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। अपराधोन्मुख को अगर न्याय-दण्ड द्वारा सिर्फ़ जैसे-तैसे अपराध-कर्म से वंचित रखा जाता है, उसकी अपराध-वृत्ति के ही शमन करने का भी उससे कुछ उपाय नहीं होता, तो कहना चाहिए कि उस न्याय से न्याय की अर्थ-सिद्धि तो किञ्चित् नहीं होती, उससे केवल पुलिस-कर्म होकर रह जाता है।

न्याय की संस्था दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य से उऋण नहीं हो जाती। बल्कि दण्ड की सम्भावना को उसे कम करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। न्याय की संस्था की सफलता इसमें जाँची जा सकती है कि उसका काम घट रहा है या बढ़ रहा है। जितनी अपराध-वृत्ति घटती है न्याय को उतना ही सफल मानना चाहिए। जेलखाने अन्याय के सूचक हैं। मगर अपराध एक सामाजिक रोग है तो जेलखाने अस्पताल की भाँति होने चाहिएँ और कैदी को रोगियों की-सी सुश्रूषा और सहानुभूति मिलनी चाहिए।

इस भाँति न्याय मानवीय सहानुभूति के ही वातावरण में मिल सकता है। आदमी और आदमी के बीच क़ानून की जटिलता की जितनी कम दूरी हो, न्याय के लिए उतना भला है। तब सहानुभूति उतनी ही कम दुर्गम होगी। क़ानून की किताबों की तह-की-तह मानो बीच में खड़ी होकर व्यक्तिरूप से जज को और अभियुक्त को अलग-अलग दो कक्षाओं में डाल देती हैं। फ़ैसला तब क़ानूनी होता है और हार्दिकता उसमें कम रह जाती है। इस प्रकार न्याय की मशीन तो झटपट और तेज़ी से चल सकती है, लेकिन मानव-जाति में कोई समुन्नति नहीं हो सकती।

लेकिन उसके विरोध में उन जज मित्र ने अपने एक अनुभव का हवाला दिया। कहने लगे कि आपके मतलब का न्याय शायद पञ्चायती न्याय है। पञ्चायत में सब एक-दूसरे को जानते हैं। फिर भी पञ्च की हैसियत से वे लोग कुछ अपने से ही ऊँचे उठ जाते होंगे, ऐसी प्रतीति रखी जाती है। पञ्चों का वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों के साथ

भाईचारा होता है। इस प्रकार उचित न्याय की अधिक आशा है, यही आपका आशय है न? लेकिन पञ्चायत का प्रयोग किया गया है और बिलकुल असफल हुआ है। सरकार ने पञ्चायत के पीछे अपना क़ानूनी सरचश्मा तक दिया। पञ्चायत के फ़ैसले की अपील नहीं थी और उसका पालन अनिवार्य बना दिया गया था, लेकिन पञ्चायत पर स्थानीय लोगों का विश्वास जम ही नहीं सका। गाँव के लोग अपने में से किसी को चुनकर मुखिया नहीं बना सकते। वे अपने ऊपर बना-बनाया एक अफ़सर चाहते हैं। यह तो हालत है भाई। इससे उस प्रयोग को अब छोड़ना पड़ रहा है।

इस सिलसिले में उन्होंने एक प्रसिद्ध पुरुष का नाम लिया। इन व्यक्ति की प्रामाणिकता सन्देह से परे थी। उनका जीवन निःस्वार्थता का जीवन था। लेकिन अपने हल्के की पञ्चायत के सरपञ्च की हैसियत से लोग उनका विश्वास करने के लिए तैयार न थे। जज मित्र ने बताया कि वह एक बार दौरे पर गये। वहाँ उनके सामने मामला पेश हुआ और स्थानीय पञ्चायत के सब पञ्च आए। फ़ाइलों के काग़ज़ों में जब हमारे जज मित्र ने सरपञ्च का नाम देखा तो सम्भ्रम में रह गये। क्या यही व्यक्ति वह प्रसिद्ध आचार्य हैं, जिनके उदार चरित्र की छाप बच-पन से उनके मन पर अंकित है? लेकिन देखा गया कि उन आचार्य की असन्दिग्ध प्रामाणिकता और सात्विक सादगी मामले के निबटारे में कुछ काम नहीं आ रही है। उन (सरपञ्च) का फ़ैसला लोगों को मान्य नहीं होता है। और वादी-प्रतिवादियों में से एक दल उन पर सङ्गीन आरोप तक लगाता है।

ख़ैर, उस मामले को न-कुछ देर में हमारे जज मित्र ने रफ़ा-दफ़ा कर दिया। बात ज़रा-सी थी और ज़रा में हल हो गई। वादी-प्रतिवादी दोनों को उन जज का न्याय मान्य हुआ।

"अब" उन जज-मित्र ने कहा, "मुझ में आचार्यजी के मुक़ाबिले में कुछ भी तो निःस्वार्थता नहीं है। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उनसे

कहीं हीन हूँ। पर मैं मामले को सुलझा सका, आचार्यजी कुछ नहीं कर सके। सो क्यों ? कारण एक तो यह कि मैं उन गाँव वालों के निकट बिलकुल परिचित नहीं था। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उनसे एकदम अलग था और वह मुझ से दूर थे, इससे मेरी तटस्थता में उनको सन्देह नहीं था। जब कि आचार्यजी उनके पास के होकर अपने सम्बन्ध में उतनी तटस्थता का आश्वासन गाँव वालों को नहीं पहुँचा सकते थे। दूसरा कारण शायद यह कि मैं अफ़सर था, जब कि आचार्यजी उन्हीं में के एक थे। इसलिए न्याय को जैसा हार्दिक वातावरण देकर आप सुगम बनाना चाहते हैं, उस तरह वह दुर्गम बनता है। न्याय की एक वैधानिक और केन्द्रित संस्था होने से वह सशक्त बनता है। न्याय में तटस्थता चाहिये और न्यायाधीश स्थानीय परिस्थिति से ऊँचा और विशिष्ट हो तभी तटस्थता रह सकती है। क़ानून की संस्थाओं से पेची-दगी बढ़ जाती है; लेकिन न्याय में तटस्थता सुरक्षित रहती है। न्याय में भावुकता को अवकाश नहीं है।"

जज मित्र की बात को एकाएक काटना मुश्किल है। यह बेशक आज की एक सचाई है। 'घर का जोगी जोगना' रह जाता है, 'आन गाँव का सिद्ध' समझा जाता है। दूरी पैदा होने से मोह सम्भव होता है, पास होने से वह मोह कट जाता है। और मोह में प्रभाव है। आदमी आदमी में मोह के कारण ही भेद मानना सम्भव होता है। राजा हम से बहुत दूर है। हम दोनों में अन्तर डालने के लिए न जाने कितनी विभूति बीच में मौजूद है। हम कच्चे घर में रहते हैं और राजा जिस महल में रहता है, उसकी जाने कितनी ड्योढ़ियाँ हैं, कितने परकोटे हैं। उसका दर्शन दुर्लभ है, ऐसा है तभी तो राजा का राजापन कायम है। यह कृत्रिम दूरी बीच में न हो तो राजत्व का प्रभाव भी क्या शेष रह जाय ? इसलिए जिसको केवल उसकी महिमा से जानते हैं, उस दूर के राजा का तो हम पर असर हो सकता है; पर जो पड़ोस में रहता है, हर घड़ी और हर काम में जिसका साथ हमें सुलभ है, उसका प्रभाव हम

पर किस तरह कायम रह सकता है ?

इसलिए अगर न्याय सम्भव बनाना है तो अभियुक्त और जज में अन्तर डालने के लिए एक कृत्रिम संस्था की आवश्यकता है। नहीं तो, दबाव नष्ट हो जायगा और अभियुक्त खुद जज होने का दावा कर सकेगा।

मुझको प्रतीत होता है कि इस ऊपर के तर्क में बल है अवश्य। लेकिन यह तर्क स्थिति का तर्क है प्रगति का सत्य इसमें नहीं है।

क्या वर्तमान ही अन्त है ? कायम रहना भर ही सब कुछ है ? या कि भविष्य की भी सत्ता है ? और उसकी ओर सचेष्ट होकर हमें चलना है कि नहीं ? क्या मानव अचल है ? या फिर वह विकासशील है तो उसकी संस्थाएँ भी स्थिति के तर्क से घिर कर नहीं रह सकतीं। उन्हें गति के तत्त्व को अपनाना होगा। इसलिए हाईकोर्ट की इमारत बहुत ज़बर्दस्त और मज़बूत हो, न्याय के लिए यही काफ़ी नहीं है। बल्कि वह न्याय स्वयं विकासशील हो, यह भी आवश्यक है।

न्याय का विकास दण्ड से क्षमा की ओर है, जैसे कि मनुष्य का विकास क्रूरता से करुणा, शत्रुता से मैत्री और अहंकार से उत्सर्ग की ओर है।

समाज में स्थिति-भंग न हो, न्याय का लक्ष्य यहीं आकर नहीं रुक जाता। उस समाज में जीवित एकता व्याप्त हो, यह भी न्याय का ही साध्य है। इससे जो न्याय अपना दायित्व तात्कालिक समाज-स्थिति (Status Quo) के प्रति ही मानता है, अर्थात् जो उस वक्त के क़ानून से घिर जाता है, वह असल अर्थ में न्याय की माँग पूरी नहीं कर सकता।

गहराई से देखा जाय तो इस प्रकार के न्याय की संस्था तात्कालिक शासन के शुद्ध समर्थन में बनती है। वह पक्षगत है। वह सब के प्रति एक-सी हो नहीं सकती। जो दल या वर्ग शासनारूढ़ है, संस्थाबद्ध न्याय उस वर्ग के पैरों को छूता है, जब कि और वर्गों के वह सिर पर बैठता

है। उसके अन्तरङ्ग में समभाव नहीं, विषम-भाव होता है। वर्ग-हित से वह प्रभावित है। उसकी तटस्थता साधक की तटस्थता नहीं है, मशीन की तटस्थता है। उसमें अगर व्यक्ति और व्यक्ति में फ़र्क नहीं किया जाता तो कसीखे में मशीन की छुरी की धार अपने नीचे पड़े हुए गाय और बकरी के सिरों में ही कब फ़र्क करती है?

इसलिए न्याय में कानून के सहारे आसानी से सध सकने वाली तटस्थता कोई श्रेय वस्तु नहीं है। वह क्रूरता भी हो सकती है। व्यक्ति उसमें अङ्क बन जाता है और न्यायकर्त्ता उससे जड़ बनता है। उसमें सहानुभूति मन्द होती जाती है, यहाँ तक कि न्यायाधीश व्यक्ति रहता ही नहीं, बस एक मशीन का पुर्जा हो जाता है। वह हृदय से काम नहीं लेता, स्टेट की बनाई दण्ड-विधान की पोथियों से काम लेता है। व्यक्तिगत रूप से वह बहुत मीठा है, बहुत सज्जन है, और अतिशय धार्मिक है। लेकिन जज होकर वह जड़ है, वह पोथी का बँधुआ है और अपनी कुर्सी पर मानो वह अपने हृदय को बाद देकर बैठता है।

"लेकिन," जज मित्र ने कहा "आप कहते क्या हैं? हम लोग हृदय की बात सुनें तो कुछ कर नहीं सकते। ऐसे दुनिया में काम कैसे चल सकता है?"

मैंने कहा कि हृदय की बात नहीं सुनकर आखिर आप किस की बात सुनना और मानना चाहते हैं? जो वेतन देता है क्या उसकी?

जज मित्र मेरी ओर देखते रह गये।

"मुझे इसमें आपत्ति नहीं" मैंने कहा "आप वेतन-दाता की बात सुनिये। बल्कि वह तो वफ़ादारी है। लेकिन उसकी बात ही न्याय की बात है, यह मुझे मानने के लिए आप कैसे कह सकते हैं?"

उनका मत हुआ कि ऐसे दुनिया का काम नहीं चल सकता।

मैंने कहा कि जज कोई न हो तो बेशक दुनिया का काम नहीं चल सकता। लेकिन आप जज न हों, तब तो दुनिया का काम शायद चल सकता है। यों कहिये कि जज हुए बिना पहले तो आप ही का काम

नहीं चलता। आपको बारह सौ रुपये मासिक मिलते हैं न?

मित्र बोले कि मैं बारह सौ छोड़ता हूँ। मुझे उस काम में कोई रस नहीं है। चलो, आप मुझे पाँच सौ ही माहवार दे देना। आखिर बाल-बच्चे तो पलने चाहिएँ।

मैंने कहा कि बारह सौ माहवार आप इतने दिनों पाते रहे हैं। अब ग़लत समझ कर उसे छोड़ते हैं तो उस ग़लती करते रहने के लिए क्या आपसे उलटा और प्रायश्चित्त नहीं माँगा जा सकता? अगर कोई चीज़ बुरी है तो उसे छोड़ने के लिए क्या आप कोई बदला माँग सकते हैं? क्या उसका छोड़ देना ही काफ़ी लाभ नहीं है?

मित्र ने कहा कि यह आदर्शवाद है। व्यवहार ऐसे नहीं चलता।

मैंने कहा कि व्यवहार के चलने की बात पीछे रखिये। अभी तो बाल-बच्चों के नाम पर बारह सौ मासिक लेकर आप जो काम कर रहे हैं, वह समाज ने अपने लिए ज़रूरी बना रखा हो, पर मालूम होता है कि आप उसको उस लायक नहीं समझते। तब तो कहना होगा कि बारह सौ एक दुष्कर्म की रिश्वत के रूप में आप लेते हैं। क्या यह न्याय है?

उन्होंने पूछा कि आप क्या चाहते हैं?

मैंने कहा कि मैं न्याय को समझना चाहता हूँ। मुझे मालूम होता है कि जब तक आपकी नीतिमत्ता में लोगों का सहज विश्वास नहीं है, आपकी जजी जब तक संस्था-बद्ध है और सरकारी बल पर क़ायम है, तब तक आपका न्याय सन्दिग्ध है। वह तब सरकारी न्याय है, वास्तविक न्याय नहीं है। सरकारी न्याय की ज़रूरत हो सकती है; लेकिन वह ज़रूरत काम-चलाऊ चीज की तरह की है। उस पर सन्तुष्ट होकर नहीं रहा जा सकता और जो समाज को आगे बढ़ायेगा, वह उस समाज का जज नहीं हो सकता। उसे जन-सामान्य के साथ सामान्य होना होगा। जिससे यह सम्भव हो सके कि आवश्यकता होने पर, वह जज की कुर्सी के समक्ष प्रचलित कानून के विरुद्ध, अभियुक्त के कटघरे में खड़ा हो सके।

जो सरकारी पदस्थ के कारण सम्भव बनता है, वह कर्म यथार्थ हित का नहीं हो सकता। गवर्नर गवर्नरी ही कर सकता है, गवर्नर के पद पर बैठ कर कुछ और नहीं किया जा सकता। वह खुद व्यक्ति उतना नहीं हो सकता, जितना गवर्नर होता है। उसकी निजता उतनी स्पष्ट और प्रबल नहीं हो सकती, क्योंकि वह पदारूढ़ है। इससे कुर्सी-वाले न्याय-कर्त्ता से सच्चा न्याय नहीं मिल सकता; क्योंकि वहाँ वह स्वयं होकर नहीं बैठता, जज होकर बैठता है। आत्मा की आवाज वह उस समय दबा सकता है; लेकिन कानून की किताब की आज्ञा उसे माननी होती है।

इस पर मित्र ने बताया कि खुद उनके साथ कई बार ऐसा हुआ है। उनके मन में पक्का निश्चय हो गया है कि सही बात अमुक है, लेकिन गवाहों के बयान से उसको साबित करना मुश्किल था। इससे फ़ैसला मन के ख़िलाफ़ देना पड़ा!

मैंने पूछा कि यह आप लोग कैसे कर सकते हैं?

मित्र बोले कि हम सर्वज्ञ भी तो नहीं हैं। इससे बाहरी बातों के आधार पर फैसला करना क्या बुरा है?

मैंने कहा कि आदमी और आदमी के बीच में सहानुभूति जहाँ नहीं है, केवल कानून ही है, वहाँ न्याय भी नहीं है। आदमी पदार्थ नहीं है। वह दिल रखता है, वही दिल जो कि जज की कुरसी पर बैठे आदमी के पास है। उसको अलग करके जो किया जाता है, वह न्याय कैसा है?

मित्र ने हँसकर कहा कि आप अराजकता तो नहीं चाहते?

मैंने कहा कि मैं प्रेम चाहता हूँ। प्रेम मनुष्यों को फाड़ता नहीं है, मिलाता है। अराजकता में आपाधापी की ध्वनि है। प्रेम में उत्सर्ग है। सरकारी सब-कुछ मिटाया नहीं जा सकता। अदालत न रहें तो कौन जानता है कि उससे कितनी न गड़बड़ बढ़ जायगी। लेकिन अदालत के हाकिम से यह ज़रूर मैं कहना चाहता हूँ कि अदालत को अपने से

सर्वथा सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। उसके लिए आत्मनिरीक्षण और भी ज़रूरी है। जज के मन में क्षमा नहीं है और व्यथा नहीं है तो दण्ड देने का अधिकार भी उसे नहीं है। बारह सौ रुपये वाला अधिकार न्याय के मामले में अधिकार बिलकुल नहीं रहता। जज का अधिकार तो मानसिक और नैतिक ही हो सकता है। और जो उस दृष्टि से अनाधिकारी है, वह जज बनकर अभियुक्त के कठघरे में खड़े होने लायक बनता है। क्या आज आप कह सकते हैं कि कितने जज हैं जो अपने काम में अन्तरात्मा का खयाल रखते हैं? नहीं रखते तो क्यों न कहा जाय कि वे अपराधी हैं? हमारा क़ानून उस अपराध को नहीं पकड़ सकता, लेकिन क्या सचाई के क़ानून से किसी की बचत है?

मित्र हमारे ईश्वर-परायण और धर्म-भीरु व्यक्ति हैं। वह स्वयं ईश्वरीय न्याय को मानते हैं। लेकिन इस बात में उनको विशेष अर्थ दिखाई नहीं दिया कि जजी दुष्कर्म है। वह मानते हैं कि कर्म वह दायित्वपूर्ण है और बारह सौ मासिक जो उस काम का उन्हें मिलता है, वह भी इस दृष्टि से उचित ही है कि जज जन-साधारण से कुछ विशिष्टता की स्थिति में रह सके। नहीं तो न्याय के लायक तटस्थता उसमें नहीं रह सकती।

मैंने हँसकर कहा कि आप बारह सौ बेशक क्यों छोड़ें। इसमें हम जैसे आपके मित्रों को भी लाभ की आशा है न?

वह बोले कि यह पैसे की बात नहीं है।

मैंने कहा कि पैसा छोड़ देने पर ही ठीक पता चलता है कि किस बात में कितना पैसे का अंश है। उससे पहले पता नहीं चलता। लेकिन आपकी निश्चिन्तता में भङ्ग नहीं करना चाहता।

...ख़ैर, मित्र जज हैं और अब वह अवकाश लेने वाले हैं। साथ पेन्शन भी लेंगे। मुझे जब मिलते हैं, मानते जाते हैं कि बेशक क़ानून का न्याय हृदय के न्याय से घट कर है। हम लोग जाने अपने ऊपर कितना अन्याय करके न्यायकर्ता का काम चलाते हैं।

पर न्याय-अन्याय जो हो, आप निश्चय रखिए कि न्यायाधीश का पद जब छूटेगा तभी उनसे छूटेगा। उस पद और उस वेतन को वह मानसिक विश्वास के बल पर छोड़कर समाज में कुछ क्षोभ पैदा नहीं करेंगे। क्योंकि वह ऐसे धार्मिक हैं कि संसार की बातों को विशेष महत्त्व नहीं दे सकते।

वह जो हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि न्याय खरा उसी के हाथों हो सकता है जो व्यक्ति स्वेच्छा से अकिञ्चन हो गया है। जो उसके पास है, बस प्रेम। वही उसका समूचा धन। उस प्रेम में वह अपने को नीच-से-नीच का भी सेवक देखना चाहता है। अपराधी का अपराध वह खुद अपने में देखना चाहता है। इसलिए खुद वेदना लेता है और दूसरे को स्नेह ही देता है।

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

आज मैं कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग में होता है। धर्म में त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नहीं होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की रीति उलटी है। ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है। गर्म-तेज बात रास्ते में इन्द्रिय-विषयों को चहका कर उस चक्कर में रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी हो आती है। भोग के स्वाद में यही तो है —आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि सामने से रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्यूषण के दिन ज़ोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृत्ति को मैं मथ डालना नहीं चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मैं कैसा निर्बल हूँ। कोई आग-सी लहक आप में जाग उठे, ऐसा काम मैं नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमें दूसरा कोई नहीं जलता है; हमारे विकार ही जलते हैं। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे में पढ़ रहा था। दाद को जितना खुजाओ उतना ही मज़ा आता है। असल में, उसके छोटे-छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मज़े का मतलब उन कीड़ों

का मज़ा है। अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते हैं। आपस के विवाद और वितंडा से जो मज़ा अक्सर आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमें हम अपना खून पीते और मज़ा मानते हैं।

आज के परचे में आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मैं हूँ। मैंने ही वह विषय दिया। पर सुनने में वह क्लिष्ट हो, आप देखेंगे कि हमारे और आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुँच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मैं विद्वान् नहीं हूँ। पर आज तो मैं उसे सद्भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा में और महावीर की अहिंसा में और बुद्ध की अहिंसा में और गाँधी की अहिंसा में क्या तार-तम्य और क्या उनमें सूक्ष्म भेद है? यह विषय मुझ जैसे अबोध की पात्रता से बाहर है। यह मेरा सौभाग्य नहीं तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म-चर्चा में गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मैं कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझे नहीं मिला है। अपने से दूर जाकर मैं कुछ नहीं पकड़ पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्त्व हो तो उसकी उधेड़-बुन में मैं किस आधार पर पड़ जाऊँ?

विषय के दो हिस्से हैं। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमें समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगड़ना नहीं चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय? हममें से हर एक साढ़े-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नहीं। हर काम और हर बात में अपने सीमित होने का हमें पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओं के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म हैं।

यह बात साफ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ हैं। मन भागकर दुनिया में दौड़ता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या-क्या अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहती हैं। अपने ही इन तत्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते। हमारी जो हदें हैं उन पर पहुँचकर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते हैं।

जैसे सपने की ही बात लीजिए। आप रोग में खटिया से लगे पड़े हैं, पर सपने ऐसे उड़ते हैं, ऐसे उड़ते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नहीं। बादल पर सवारी करते हैं, सारी दुनियाँ को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते हैं। दिन के काम में आप बँधे हुए हैं। पर रात के सपने में एकदम खुल जाते हैं।

मैं उन आदमियों में नहीं हूँ जो सपने को सपना कहकर उड़ा देते हैं। मैं तो वहम को भी मानता हूँ। इसी तरह सपना दिन की धूप में सपना हो, पर रात में आँख मिचने पर वही सच होता है। हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है। और मैं यह भी आपको कहना चाहता हूँ कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते। अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नहीं तो रोग ही फिर क्यों होता? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है। सपने के कारण हममें सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है।

पर एक बार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पड़ी। ऐसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ। पर देखा तो वह सो रही थी। थोड़ी देर में फिर चीख हुई। अब के वह उठ पड़ी थी। माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी। मैंने पूछा, "क्या है?" बोली, "कुछ नहीं।" यह "कुछ नहीं" उसने झूठ नहीं कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है। और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नहीं' है। इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है,

जिसका दूसरा नाम है स्वप्न, वह एक दम असत्य नहीं है। उसमें से चीख निकल सकी, उसके बदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आपको यह बतलाने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम में जब बेहद झगड़ा पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित हैं, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) में से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियों की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उनमें विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हें हठात् इन्कार करके हम उन्हें अपनी जकड़ बनाते हैं। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढ़ाना चाहते हैं, यानी अपना विकास करना चाहते हैं, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्धा में नहीं।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिए। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़ने में बहुत तेज है—एफ० ए० पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि खूब ऊँचे ख्याल उसके हो गये हैं। उसका घर गाँव में है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान हैं। लेकिन पढ़-पढ़कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतन्त्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता में पड़े हुए हैं।

अब कल्पना में लाइए कि इस बालक का परिस्थिति के साथ कैसे मेल बैठेगा? क्या वह जो बालक सोचता है, गलत है? गलत तो नहीं है। पर अगर उसके सही होने के जोश में घर में पाँव रखते ही वह

बालक माँ-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है; कहता है कि तुम वहम में पड़े हो, और मैं इस घर में खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है, तो आप क्या कहेंगे? उसे विद्वान् कहेंगे या मूर्ख कहेंगे? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिए, मैं जैन-कुल में उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य-ही-असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व, जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को ग़लत ठहराए, मेरी तबियत नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या अपमान या अनादर किसी के प्रति भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ? क्या ऊँची गर्दन करके यह कहूँ कि मैं जैन नहीं हूँ, मानव-धर्मी हूँ; और तुम जैन-धर्मी हो तो भूल में हो? मैं मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन-धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी होकर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है? इसलिए जिसको परम्परा से जैन-धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा इसकी मुझको कोई ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती।

छुटपन में कहानी पढ़ी थी कि चन्दा देखकर रामजी मचल गए। रोवें सो रोवें। मानकर ही न रहें। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देखकर हाथ लपकाते थे, पैर अपनी जगह छोड़कर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी ज़मीन छोड़कर चन्दा राजा की तरफ़ उलाँच भरने जितनी कहीं बदन में शक्ति होती, और माँ पास न होती, तो रामजी

गिर-गिरा कर अपना सिर ही फोड़ लेते। पर ग़नीमत कि उनमें इतनी ताक़त न थी और माँ भी पास थीं। आखिर माँ ने क्या किया कि थाली में पानी भरकर उस चन्दा राजा को आसमान से नीचे थाली के बीच में उतार लिया। राम जी उससे मगन हो गए, और सो गए।

हम सब पर माताएँ तो रह नहीं गई हैं। मेरी माँ तो मुझे छोड़ ही गई हैं। उनके अभाव में, यह समझ कर कि हम बड़े हैं, क्या चाँद पर हमें मचलना चाहिए? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से हममें देखने की शक्ति हो, या अपने भीतर अक्स में लेकर उसे हम बिठा सकें! और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखड़ने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर में उड़कर चाँद तो हम पायेंगे नहीं, जहाँ हैं वहाँ से भी गिर पड़ेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। क़दम-क़दम पर स्थिति-भंग का खतरा हमारे लिए है। मैं बालक हूँ ही, पर दुनिया में कुछ हैं जो अक्षर पढ़कर साक्षार बने हैं। उन में उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड़ दौड़ते और ऊँची फाँद लगाते हैं। वे यहाँ तक क्यों मानें कि वे कम हैं? उन्हें अपने खेल में आनन्द है। गिरते हैं तो उन्हें हक है कि उसमें से वे सबक़ न लें बल्कि खेल का और मज़ा लें। वे उस आनन्द की अतिशयता को झेल नहीं सकते, इससे हम तुमको भी वह आनन्द देना चाहते हैं। अब हम क्या करें? हमारे पास माँ है, या कोई हमें माँ तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म-संकट में हम वहीं पहुँच जायँगे। पर यदि हम कुछ बड़े हो गए हैं और माँ हमसे छिन गई है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमें नहीं है, तो उपाय होगा कि स्वधर्म को हम अपने पकड़े रहें और उसकी गोद न छोड़ें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानो समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक हैं या युवा हैं; या

अपने परिवार में बड़े हैं या नगर-मान्य हैं, या समाज-रक्षण की कुछ ज़िम्मेदारियाँ हम पर हैं, अथवा राष्ट्र नेता हैं या कि लोकनायक हैं—इन सब हालतों में हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग-अलग हालतों में सीमाएँ भी अलग हैं। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियों में उन्हीं सीमित स्वधर्मों के पालन में हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक ज़िम्मेदारी निबाहने के योग्य नहीं बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बड़े क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्वजनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म संकटता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनों उससे क्षुब्ध होते हैं।

स्वधर्म शब्द में ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात् दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए पर-धर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मो भयावहः।" अर्थात्, स्वधर्म न छोड़ना और पर धर्म न ओढ़ना। परधर्म पर का धर्म है। मेरा वह नहीं है। परधर्म मानकर भी मुझे उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारा दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी में नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नहीं है। आदर्श में खण्ड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य में हम-तुम सब समाये हैं। सब धर्म उसमें अभिन्न हैं। सब जीव उसमें एक हैं। असल में तो सभी तरह का द्वैत उसमें लीन है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसी को कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ भी। हमें अपनी पृथकता में जीवात्मा है, अपनी एकता में

परमात्मा।

उस एक की झाँकियाँ अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह उसे अपने ही रूप में देखता है। उनमें कोई झाँकी ग़लत नहीं है। वे एक-दूसरे की पूरक हैं। वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर अपनी-अपनी जगह एक-सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे; दूसरा धुँधला। वह तो चित्र-दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन में एक रूप में प्रतिफलित करे; दूसरा दूसरे रूप में घटित करे—वह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनों स्थानों पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौकूफ़ नहीं है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब-कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब-कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोप नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोप एक तरह से परधर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म में निधन अच्छा, परधर्म का स्वीकार कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते हैं तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते हैं। यह तो हिंसा है।

मैं इसी ढंग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रहकर मुझे मौत आती हो, हर्ष से मुझे उसे भेंटना चाहिए। अब अहिंसा की पहचान यह कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त वैसा ही मैं त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमानों को हिन्दू बनाने में नहीं; बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने में मदद देने के लिए, अपना सब-कुछ होमने की लगन मुझमें जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूँ, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मानकर गो-कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम-भाव से उस भाई का हृदय जीतूँ या मुझमें सचमुच इतनी करुणा हो कि गाय की रक्षा के लिए अपनी गरदन मुसलमान भाई को दे दूँ। पर थोड़ी देर के लिए समझिये कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित होकर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिलकुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो-भक्त की राह में बाधा बन जाऊँ और अपने जीते जी उस मुसलमान भाई की कुरबानी में बलात् विघ्न न पड़ने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न होगा जब स्वधर्म पर आरूढ़ रहने की हम में निष्ठा हो। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमें स्वधर्म-निष्ठा नहीं है; दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमें नहीं होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड़कर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परमधर्म में अब भी है ही। फिर जो उसमें स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यों? मन का ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग में दो शरीर अपनी पृथकता सहन न करने के कारण मिलते हैं। इसी से भोग का फल ऐक्य नहीं, अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोड़े दिनों बाद उनका प्रेम उड़ जाता है। मैंने तो सौ फीसदी यह बात देखी है। क्यों ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए प्रेम मोह बना, मोह से काम आया। और फिर तो देखा गया उसकी पूँछ में घृणा आ गई है, प्रेम उड़ गया है।

आज मैं इस बात को बहुत ज़ोर से कहना चाहता हूँ। क्योंकि

लोग हैं जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी हैं। उनका अभिप्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डन करना चाहती है, वह सच्ची एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक-दूसरे से पवित्र रखकर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उसमें अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

बहुत लोग हैं जो बहुत ऊँचे उठ गये हैं। यानी वे नामधारी सब सम्प्रदायों, जातियों, धर्मों और हद-बन्दियों से पार हो गये हैं। वह विश्व की एकता में रहते हैं। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हों, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो स्वयं नहीं है, वह सब-कुछ कैसे हो सकता है। शरीर से कोई विश्व में कैसे रह लेगा? रहेगा तो एक कमरे में ही। इसी तरह सब भाषाएँ कैसे बोल लेगा? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हमको एक परम-धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिंसा। मेरा अपना धर्म सीमित है, यह मुझे क्षण के लिए भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मैं नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाज़ा है कि मैं ऐसा न करूँ। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी में निष्ठित रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसका आशय है कि वाक्-शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्हीं भी और साधनों से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा

विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे जानते है कि हम जो जानते हैं वही ज्ञान की परिसीमा है? अगर परिसीमा नहीं है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं। अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उससे न डिगने में मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है यह ध्यान रहे कि उस आग्रह की सीधी चोट मुझसे बाहर कहीं न पड़े। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य है, तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहाँ आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य में तो सभी समाया है—मेरी झाँकी भी, मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप सम्पूर्ण सत्य को ध्यान में लें तो आग्रह की कहाँ गुंजाइश रह जाती है?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य में तो सब भेद लय हैं। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नहीं। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उसको नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी हैं। इससे जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योंकि जिसके प्रति हिंसा हो, उसमें भी तो ईश (सत्य) तत्त्व है। इससे हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है और अहिंसा ही सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण हैं, इसी से हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परम धर्म हम पर लागू है।

मैं नहीं जानता कि अपनी बात आपके आगे मैं साफ़ रख सका हूँ। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणों के साथ खोलकर रखता। मैं मानता हूँ कि अन्तिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और प्रस्तुत अवस्था यानी हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारों के बीच सतत विकासशील धर्म की स्थिति को भी, और गति

को भी कैसे निबाहा जाय—यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवन-कला है। और इसी का ज्ञान सम्यक्-ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष वास्तविकता—इन दोनों तटों को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर हैं दूसरी ओर अध्यात्म में हमारी निष्ठा है। यों दोनों परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। किन्तु विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है, नष्ट नहीं होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरी उपाय नहीं है। किसी तत्त्वशास्त्र या तर्क-शास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिण्ड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान रहे कि पिण्ड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिण्ड यह पहचानेगा तो अपनी पिण्ड-रूपता से उसका झगड़ा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े तीन हाथ के शरीर में रहकर भी अन्तःप्रकृति में व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा, व्यष्टि समष्टि होगा।

अन्त में जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा में उसके बारे में हमें क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिए।

१—व्यक्ति रूप में हम सीमित हैं। इससे स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

२—वह स्वधर्म है, इससे हम से दूसरे के लिए वह परधर्म है। मुझ पर वह लागू नहीं है।

३—स्वधर्म पालन से स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

४—स्वधर्म के पालन में मुझे मृत्यु से भी मुँह मोड़ने का हक़ नहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म में ही निश्चित रहने में सहकारी बनूँ।

५—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म-निष्ठ और उसके पालन में अपने प्रति निर्मम होता है वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार,

आदरशील और समभावी होता है।

६—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नहीं। बल्कि दूसरे में आत्मवत् वृत्ति रखकर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतना ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है, जितना स्वयं स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क-कौशल या शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अन्तःसिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है।

७—आदर्श अखण्ड है। उस पर हमारी अपूर्णता का सीमा विभाजन नहीं है।

८—जगत् के नाम-रूपात्मक सब धर्म अमुक सम्प्रदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित हैं। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप हैं।

९—सब धर्म सच हैं। उनकी सचाई में तरतमता नहीं है। इसलिए उनमें तुलनात्मक बुद्धि ग़लत है। धार्मिक की अन्तःशुद्धि की अपेक्षा उन में सचाई पड़ती है।

१०—आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सबके लिए सम-सामान्य और परम धर्म है।

११—असीम को पकड़ने की लालसा में सीमाओं को लाँघना या तोड़ना ग़लत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रहकर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नहीं है। और शरीर में रहकर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनन्त दूर, तक उन्नति कर सकता है।

१२—ऐक्य आत्मा में है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायगी। आत्मैक्य साधने के लिए शरीर को पवित्र अर्थात् असंपृक्त रखना चाहिए। यह अनुभव की बात है कि भोग से व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ता है और संयम से उनमें प्रेम दृढ़ होता है।

१३—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट होकर, क्षुब्ध होकर, ऊपरी जोड़-तोड़

बिठाने से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढंग के नेकनीयती से किये गए प्रयत्न विशेष-फल न ला सकेंगे। रूपाकारमय वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आँच में ही पहुँच कर अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का लक्ष्य नहीं है।

१४—दूसरे के स्वधर्म के लिए अपने स्वधर्म का अल्पांश भी त्याग किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा-धर्म स्थितिबद्ध नहीं, बल्कि गतिशील है। इसलिए अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता। अपने प्रति निर्मोह दूसरे के प्रतिप्रेम की अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ़ सकती है। पर अब मैं पीछे रहूँगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब मैं आपसे अपनी जगह जाने की अनुमति ले लेता हूँ। क्षमा करें। प्रणाम![1]

---

१. भाषण—पर्यूषण व्याख्यानमाला, कलकत्ता

अहिंसा की बुनियाद

जैन-धर्म को मैं इतना जानता हूँ कि वह आत्म-धर्म है। आत्मा सब में है। सब में परमात्मा है, पर हममें वह मूर्छित पड़ा है। जिन्होंने परमात्मत्व का लाभ किया है, उनमें आत्मा का शुद्ध चिन्मय रूप अपने निर्मल कैवल्य में प्रस्फुटित हो गया है। आत्म-धर्म होकर जैन-धर्म एक ही-सा सबके उपयोग का हो जाता है। इसी से दूसरा इसका नाम अहिंसा-धर्म है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा, यानी दूसरे सब जीवों में आत्मोपमता। जो है वह सब में है। जिससे मुझे चोट लगती है, उससे दूसरे को भी त्रास होता है। इससे जो मैं नहीं चाहता कि मेरे प्रति किया जाय, वह मुझे दूसरे के प्रति भी नहीं करना है। अहिंसा की प्राथमिक भूमिका यही है। लेकिन अहिंसा तो परम धर्म है न। इससे जीवन के सतत और चरम-विकास में कहीं उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं होती। वह अचल तत्त्व नहीं, गतिमय और विकासशील धर्म है। उसके प्रयोग को चुकाया नहीं जा सकता। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ हैं और जब तक व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो जाता तब तक अहिंसा का उसे सम्बल है। यानी दूसरे को दुःख न पहुँचाओ, यहाँ से अहिंसा शुरू होकर दूसरे के हित में निछावर हो जाओ, इस शिक्षा की ओर अग्रसर होती है। इस दिशा में अहिंसा की माँग बढ़ती ही जाती है। अहिंसक के पास अपनेपन जैसी कोई चीज़ नहीं रह जाती।

सांस भी वह अपने लिए नहीं लेता। यहाँ त. कि उसे अपनी मुक्ति की भी कामना नहीं रहती। प्राणियों की 'आर्ति' को दूर करने में वह काम आता रहे, यही उसकी भावना रहती है। शेष से अलग जैसे उसके पास अपना कोई निजत्व ही नहीं रह जाता। इस तरह उसका जीवन लोक-जीवन के साथ तत्सम होकर विराट हो जाता है। उसका हृदय उत्तरोत्तर शुद्ध होकर इतना ग्रहणशील होता जाता है कि वातावरण में व्याप्त त्रास की रेखा भी उसके चित्त को आन्दोलित कर देती है।

इस अहिंसा के धर्म में मेरी निष्ठा है। सचमुच वह ग्रन्थों में से मुझे प्राप्त नहीं हुआ। जीवन में जो असफलताएँ, संघर्ष, हीनताएँ झेलीं, उन्हीं में से यह दर्शन फूट निकला है।

आज हम जिस समय में रह रहे हैं, साँस भी वहाँ घुटता है। खाना, सोना, रहना सब एक समस्या बना है। बड़े सवालों की बात मैं नहीं करता। राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों की पेचोदगियों से वे उलझेंगे जो उसमें पड़े हैं। लेकिन हम भी उस उलझन से बाहर नहीं हैं। सात समुद्र पार हो रही लड़ाई से हमारा भाग्य भी हिलता है। वह लड़ाई अब तो किनारे आ रही दीखती है। पर क्या हमें कुछ अपने भाग्य का निस्तार दीखता है? मानो जीवन की समस्या लड़ाई निबटने पर सुलझेगी नहीं। वह उलटे कहीं और कसी हुई ही न दिखाई दे। हर चीज़ का मूल्य तिगुना हो गया है। हाँ, सिर्फ पैसे का मूल्य तिहाई रह गया है। समस्या इस पैसे की है। वह सरल और सीधी नहीं है। ज़रूरी चीजों के लिए सबके पास ज़रूरी पैसा नहीं है। कहीं वह बहुत है, कहीं वह बिल्कुल नहीं है। अनाज खेत में उगता है, पर पैसा वहाँ पैदा नहीं होता। पैसा ऐसी चीज़ नहीं है कि भगवान् के दिए हुए दो हाथों की मेहनत से कोई पैदा कर ले। उसके पैदा करने में कुछ ऐसी चीज़ की ज़रूरत भी होने लगी है, जो भगवान् ने नहीं दी। पैसा एक राजनीतिक संस्था है। राजनीति मनुष्य की अपनी बनाई हुई चीज़ है। राजनीति और अर्थनीति को जुड़वाँ जोड़ी समझना चाहिये। दुनिया का

अर्थ-चक्र एक ऐसा यन्त्र है, जिसकी बारीकी और पेचीदगी की तुलना कोई दूसरा यन्त्र नहीं कर सकता।

मैं मानता हूँ कि अहिंसा इन प्रश्नों से तटस्थ नहीं रह सकती। वह पानी क्या, जो आग बुझाये नहीं। अहिंसा अपनी निजता के वृत्त में सिद्ध नहीं होती है। मैं अपने प्रति अहिंसक हूँ, इसका कोई अर्थ ही नहीं। उसकी तो सामाजिक और आपसी व्यवहार में ही सार्थकता है। इसमें राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय सब सवालों की चुनौती उसे स्वीकार करनी होगी, जो अहिंसा को धर्म मानता है। अहिंसकों को साबित करना होगा कि उनकी अहिंसा इन सवालों की ललकार पर पीछे रहने वाली नहीं है, बल्कि वह उनका सामना और समाधान कर सकती है।

धर्म के भी और सब चीज़ों की भाँति दो पक्ष हैं। सत्ता कोई बिना दो सिरों के हो नहीं सकती। धर्म का एक मुख उस सर्वात्मया परमात्मा की ओर है, जो एक, अभिन्न, अखण्ड है। धर्म का यह पहलू अनिर्वचनीय है। वह चर्चा और विवेचन से अगम है। उसकी साधना एकान्त मौन में है। उपासना, पूजा, भक्ति, प्रार्थना सब इसी के ध्यान के रूप हैं। इसमें व्यक्ति अपने को विश्वभाव से देखता है। या कहो कि विश्वात्मा के प्रति समर्पण द्वारा वह अपने को रिक्त करता है। वहाँ शब्द मात्र उपलक्ष है। मूर्ति, प्रतिमा, स्तोत्र, नाम आदि सब बाह्य साधन हैं। नाम कुछ हो, शब्द कुछ हो, उपास्य मूर्ति का आकार-प्रकार कुछ हो, मन्दिर कहीं या कोई हो और पूजाविधि भी चाहे जैसी हो, इस अन्तर से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस अन्तर का वहाँ मूल्य नहीं है। वहाँ तो व्यक्ति के निःस्व समर्पण की ही माँग है। इस भक्ति-योग का जहाँ जितना सद्भाव है, धर्म की वहाँ उतनी सफलता है।

यह तो धर्म का निश्चय और वैयक्तिक रूप है। वाद अथवा विवाद का यह विषय नहीं है। इसमें व्यक्ति अपने अन्तःकरण या सर्वान्तर्यामी के प्रति ही दायी है। शेष का उसमें कोई दखल नहीं है। यह तो आत्म-शक्ति के संचय का रूप है, प्राण-साधना का विधान है।

किन्तु शक्ति की सार्थकता अपने में तो नहीं है। वह उसके उपयोग में है और यहीं धर्म का दूसरा पक्ष आता है। इसका मुख जगत् की ओर है। सच यह कि धर्म की कसौटी जगज्जीवन है। हमने प्राणों में कितना और कैसा बल प्राप्त किया है, वह धार्मिक है अथवा अन्यथा है, उसकी परख बाहर जन-समाज में ही है। यह जो अपने से पर प्रतीत होने वाला असीम बाह्य जगत् फैला है, क्या यह हमारे अन्तर्जगत् से एकदम भिन्न चीज़ है? सचमुच वह अलग नहीं है। अन्तर और बाह्य में वही सम्बन्ध है जो सिक्के के दोनों पहलुओं में है। इससे जीव का लक्षण ही है परस्परोपग्रह। परस्परता वह वायु है, जिसमें जीव पनपता है। अतः आत्मस्थ व्यक्ति का स्वभाव ही है आत्मदान। जिसने अपने को पाया, उसके लिये अनिवार्य हो गया कि वह अपने को दे। सच यह है कि खोकर ही सदा अपने को पाया गया है और सेवा में ही स्वास्थ्य और सामर्थ्य सार्थक हुए हैं।

धर्म के ये दोनों पक्ष परस्पर को धारण करने वाले हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। आध्यात्मिकता जगत् से पराङ्मुख होकर स्वयं दूषित होती है और आत्मा की ओर से विमुख होकर सांसारिकता भी प्रवंचना है। धर्म की साधना में इस प्रकार की एकांगिता आने का सदा खतरा है। विरागी जन मुक्ति की खोज में वन में भटक गये हैं और संसारी जन सुख की तलाश में इस व्यूह-चक्र में ही अटक रहे हैं। एक को भूल कर दूसरे को सिद्धि भला कहाँ रखी है? सत्य द्वैत में थोड़े हो सकता है। सत्य तो अद्वितीय और अखण्ड ठहरा, ऐक्य में से ही उसकी साधना है। जगत् और ब्रह्म उसके निकट दो नहीं हैं। माया भी वहाँ ब्रह्म की ही लीला है।

इसी को जैन-भाषा में कहा जा सकता है। महावीर राज छोड़ वन में चले गये। वहाँ बारह बरस तपस्या की। तपस्या के बल से कैवल्य पाया। उस केवल ज्ञान को ले कर क्या वह फिर विजन में रहे आये? नहीं, तब उनका मुख जन और जगत् की ओर हुआ और शेष जीवन

उन्होंने उस ज्ञान के वितरण में लगाया। जो उनके पास था उसे सब में बाँटे बिना उन्हें चैन कहाँ था। इस प्रयास में वह उत्तरोत्तर अकिंचन और निर्द्वन्द्व होते चले गये, यहाँ तक कि अन्तिम बाधा यह शरीर भी उनसे यहीं के लिये छूट गया।

महावीर का आप स्मरण करते हैं, पर किस आधार पर ? उनका आपके पास क्या शेष है ? कोई यादगार उनकी नहीं, अवशिष्ट उनका नहीं। यहाँ तक कि इतिहास भी उनका इतिवृत्त पूरी तरह नहीं जुटा पाता। फिर भी आपके हृदय में वह स्वयं आपसे अधिक जीवित हैं। क्या उनके लिये आप में अपना जीवन निछावर करने की ही इच्छा नहीं पैदा हो पाती ? क्या आप नहीं मानते कि आप धन्य होंगे यदि उनके काम आ सकेंगे ? यह सब इसलिए कि महावीर के नाम से आप में अपने चिदानन्द निज रूप का स्मरण जाग उठता है।

यहाँ एक बात विचारने की है। धन बड़े काम की चीज़ है न ? उससे तरह-तरह के परोपकार के काम किये जा सकते हैं। भूखों को अन्न दिया जा सकता है, और दीनों के अभाव को भरा जा सकता है। फिर सत्ताधिकार का और भी अधिक उपयोग है। अफसरी और नामवरी के लिये लोग इतना धन जो लुटाते हैं, सो व्यर्थ थोड़े ही। उसमें कुछ-न-कुछ सार्थकता तो मालूम होती ही होगी।

लेकिन महावीर राजकुल में जनमे। सम्पदा उनके पास और शासन उनके हाथ। सीधी-सी बात है कि वे दुनिया का बहुत लाभ कर सकते थे, लेकिन उन्होंने वैसा कुछ उपकार का काम नहीं किया। उलटे यह सब छोड़कर वह अन्तर्मुख साधना में लग गये।

मैं पूछता हूँ कि फिर यह क्यों है कि हम उनका उपकार मानते हैं और वह इतना अमित कि उनकी मूर्ति के चरणों में बिछकर ही हम परम धन्यता का अनुभव करते हैं ? क्या इसीलिए नहीं कि उन्होंने हमारे शरीर, बुद्धि, मन की चिंता न कर हमें हमारी आत्मा का ही दान किया। हममें हमारी ही सुधि जगाई।

देखने में क्या यह नादानी नहीं कि जिस धन से अपना और दूसरे का लाभ हो सकता है, उससे जान-बूझ कर हीन बन जाया जाय? फिर भी महावीर ने वही किया। उसी करने को हम परम और चरम पुरुषार्थ पहचानते हैं और उसके लिए महावीर को तीर्थंकर मानते हैं।

यहाँ फिर हम रुकें। यह सच है कि हम बन्धन नहीं चाहते, हम स्वतन्त्र और मुक्त होना चाहते हैं। धन उसी निमित्त हम कमाते हैं। धन के बिना हम अपने चारों तरफ जकड़ अनुभव करते हैं। धन जैसे हमारे बन्धन खोल देता है। दरिद्र के मनोरथ उसे कष्ट देते हैं। धन से मन-चाहा किया जा सकता है। अपने भीतर की इसी आज़ादी की खोज में हम धन कमाते हैं, और क्योंकि आज़ादी का कहीं अन्त नहीं है, इससे धन की तृष्णा का भी अन्त कैसे हो सकता है?

लेकिन जिस मुक्ति के लिये हर कोई हर क्षण छटपटाता है, वह पाई तो किसने? क्या उसने जिसने अतुल धन-राशि एकत्रित की या एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया? चक्रवर्ती भी हो गये हैं और कुबेर भी हो गये हैं; लेकिन क्या किसी के बारे में भ्रम है कि इनमें से किसी ने अपने अपार धन और सत्ता के बीच अपने को मुक्त अनुभव किया? क्या उन्होंने ही अपने जीवन से प्रमाणित और अपने शब्दों में यह स्वीकृत नहीं किया है कि यह समस्त वैभव उनके चारों ओर के बन्धन का जंजाल ही था? सेनाओं और दरबारियों से घिरे हुए राजाओं ने क्या अन्त में नहीं पहचाना कि वे जितने ऊँचे थे, उतने ही वे इकले और एकाकी थे? जितने वे दूसरे के शासक थे, उतने ही वे परतन्त्र भी थे।

इसके साथ क्या हमारी ही अन्तरात्मा इस बात की साक्षी नहीं देती कि मुक्ति का रहस्य और उसका आनन्द था उन लोगों के पास, जिनके पास पूँजी के नाम केवल प्रेम था, अन्यथा जो अत्यन्त अकिंचन और निरीह थे, जो स्वयं शून्य थे और सम्पूर्ण रूप में आत्म-शासित थे।

इस विस्मय पर हमें कुछ रुकना चाहिये कि जो चलने-फिरने, खाने-पीने तक के बारे में एकदम परतन्त्र है, जिसके पास अपना कहने को कुछ नहीं है, ठीक ऐसा ही आदमी है जो सर्वथा स्वतन्त्र है। वह अभय है, मुक्त है, आप्त है।

इसके विरोध में जिसके पास सब-कुछ है वह दीन, दरिद्र और बन्धन में जकड़े प्राणी के समान है। वह काल से, मनुष्य से, पड़ौसी से शंका करता हुआ जीता है और जीवन के वरदान को अपने लिए अभिशाप बना डालता है।

इसके भीतर हम जायँगे तो देखेंगे कि इच्छा की मुक्ति बन्धन का ही दूसरा नाम है। इच्छा तो अनन्त और असीम ठहरी, पर बाहर उसकी सीमा है और उसका अन्त है। इच्छा उसी बाहर की ओर जाती है। इससे वह हमको हमारेपन से दूर ले जाती है। तब हम देखते हैं कि वे इच्छाएँ हमारी नहीं; बल्कि हम उनके हैं। ऐसे वह हम पर सवारी गाँठती और क्योंकि उन्हें कहीं-न-कहीं तो निराश होना ही है इससे हमें चत-विचत कर छोड़ती है।

सच्ची मुक्ति इच्छा की मुक्ति नहीं, बल्कि इच्छा से मुक्ति है। निष्काम और अनासक्त पुरुष ही मुक्त-पुरुष है। वह तृप्त-काम है; क्योंकि जो इस समस्त कर्म-संकुल जगच्चक्र का आधारभूत प्राणकेन्द्र आत्मा है, वह उसमें तन्निष्ठ और तद्गत बनता है।

मैं अर्थ का विरोधी नहीं। मैं स्वार्थ का भी विरोधी नहीं। मैं सब के अर्थ की पूर्ति चाहता हूँ। उसका नाम परमार्थ है। अर्थ हमारा छोटा क्यों है? वह क्यों न इतना बड़ा बनता जावे कि सब उसमें समा जायँ? वह सबसे अविरोधी हो। सच पूछिए तो गहरा स्वार्थ ऐसा ही होता है। परमार्थ और स्वार्थ में यदि विरोध है तो क्या यही न मानना चाहिए कि अपने स्वार्थ के बारे में हम अदूरदर्शी हैं? अपने ही 'स्व' को और स्वार्थ को हम नहीं जानते हैं।

पच्छिम से आई विचारधारा आर्थिक है। पच्छिम से और अर्थ न

लें तो वहाँ भी सन्त हैं, साधु हैं, सद्विचारक हैं। और आर्थिक विचार-धारा पूर्व में भी वैसी ही फैल रही है। मेरी समझ में नहीं आता कि केवल अर्थ ही क्यों जीवन का माप-दण्ड हो? परमार्थ क्यों न उसकी जगह ले? अर्थ तो परमार्थ का एक अंश ही है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टिकोण आर्थिक का समावेश करके ही स्वयं सफल हो सकता है।

'समाजवाद' शब्द अब सब का परिचित है; लेकिन उसमें भी मनुष्य को आर्थिक सन्दर्भ में लेकर सन्तोष क्यों मान लेना चाहिए? मनुष्य का अर्थ जैसे समाज में देखा जाता है, वैसे ही अर्थ को भी परमार्थ में देखने का प्रयास राजनैतिक विचारक क्यों न करें? तब उनकी तृप्ति सामाजिक वाद में न होगी, वे सामाजिक धर्म को ही चाहेंगे। मुझे भी समाज के वाद यानी समाज की बात से सन्तोष नहीं होता। लगता है कि बात से आगे काम भी समाज का ही होना चाहिए। इस नीति को समाजवाद से आगे समाज-धर्म की ही नीति कहना होगा।

अर्थ का विचार करें। जैन व्यापारियों की जाति है और धनाढ्यता में पहले नहीं तो दूसरे नम्बर पर है। इससे अर्थ कि असलियत आप पर खुली ही है। सिक्का ख़ुद खाया या पहना नहीं जाता। वह सीधे किसी काम में नहीं आता; परन्तु उसमें ताकत है कि वह चीज़ों को जुटा दे। पदार्थों के विनिमय में सुभीता लाने के लिए वह उपजा। उस धन की बात करें, जो जीवन के लिए अनिवार्य है तो धनत्व सिक्के में नहीं चीज़ में है। अब वितरण और विनिमय ऐसा कुछ विषम हो गया है कि सिक्का स्वयं धन बनता जा रहा है। नतीजा यह कि जो अपनी मेहनत से मनों नाज उगाता है, वही मुट्ठी-भर अन्न को तरस सकता है।

हम जो सम्पत्ति का उपार्जन करते हैं, वह सम्पत्ति का बाँट-बटाव ही है। उस सम्पत्ति में कोई बढ़वारी हम से नहीं होती। लक्ष्मी इस जेब से उस जेब में पहुँचती रहती है। अपनी निज की दृष्टि से नहीं, समूचे समाज की दृष्टि से देखें तो इन लाखों-करोड़ों के धनोपार्जन में

क्या एक पैसे का भी सच्चा उपार्जन हम करते हैं ? व्यापारी वस्तुओं को इधर-से-उधर करता है। काम यह ज़रूरी है, लेकिन क्या सचमुच वह वस्तुओं को बनाता, बढ़ाता या उगाता है ? जब तक उसका श्रम उत्पादक न हो तब तक उसका उपार्जन शुद्ध पारमार्थिक कैसे कहा जाय ? और हम देख ही चुके कि पारमार्थिक से अनुकूल होकर ही अर्थ में अर्थता है, अन्यथा वह अनर्थ भी हो सकता है।

एक दूसरी बात की ओर भी मैं ध्यान दिलाऊँ। मुद्रा में यदि शक्ति है तो किसके बल पर ? रुपये में क्या सचमुच सोलह आने का मूल्य है ? आप जानते हैं कि ऐसा नहीं है। उस शक्ति का स्रोत सरकार है। तभी तो हर सिक्के पर उसकी मुहर और बड़े नोटों पर अफ़सर के दस्तख़त होते हैं। यह सरकार किस पर टिकी है ? उसकी शक्ति क्या फ़ौज-पुलिस और इनकी सहायता और संरक्षण में रहने वाले कानून और कचहरी ही नहीं हैं ? फ़ौज और पुलिस के बल को क्या आप अहिंसा कहेंगे ? इस तरह जाने-अनजाने सिक्कों के रूप में या सिक्कों के बल पर किया गया द्रव्योपार्जन इस सरकारी हिंसा में सहभागी होता ही है।

राजनीति से मुझे सरोकार नहीं। अधिकांश वह प्रपंच का खेल है, लेकिन मुझको ऐसा मालूम होता है कि अहिंसा की बुनियाद उत्पादक शारीरिक श्रम होना ही चाहिए, अन्यथा वह अहिंसा तेजस्वी न रहकर दया की तरह मुलायम और निस्तेज रह जायगी।

धर्म हमको प्रिय है, किन्तु हमें अपनी सम्पत्ति भी प्रिय होती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि सम्पत्ति के रूप में ही हम अपने धर्म को प्यार करते हैं। तिजोरी खोलकर अपने हीरे, पन्ने और सोने-रूपे के आभूषण देखकर गद्गद हो सकते हैं कि अहा ! क्या सुन्दर हमारा यह कण्ठा है, या हमारा यह हार है ! इसी तरह अपने ग्रन्थों में झाँककर हम परम आनन्द पा सकते हैं कि अहा ! कैसा मनोहर हमारा जैन-धर्म है ! किन्तु धर्म ऐसी चीज़ नहीं है जो आपका स्वत्व बन जाय। वह तो ऐसी

अमोघ शक्ति है कि आपको जला दे। जल कर ही आदमी उजलता है। धर्म का सेवन नहीं हो सकता, धर्म में अपनी आहुति ही दी जा सकती है।

यदि हम धर्म की महिमा चाहते हैं तो उसकी क़ीमत में अपने को देने को तैयार होना होगा। क़ीमत बिना चुकाये जो चीज़ मिलेगी वह असली कैसे हो सकती है? आदमी के बाज़ार में चूक चल जाय, पर धर्म के हाट में ऐसी भूल भला सम्भव है?

गांधी-नीति

गांधीवाद पर शुरू में ही मुझे कहना होगा कि मेरे लेखे वह शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद भी है। वाद का काम है प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करना और इस तरह अपने को चलाना। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखा-बद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात् की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आँकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहाँ है? कालान्तर (Perspective) कहाँ है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और प्रसिद्ध हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज़ से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह

चिन्मय है, वाङ्गत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खण्ड नहीं है। वह सहज और स्वभावरूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुञ्जी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो एक हैं।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न घिरकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अमोघ इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रतिशत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं, होता है—क्योंकि जो होने वाला है, उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति, इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह

एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है। मानो वह चापवन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह चापवन, यह कार्य-कौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे ज़ोर से एक ओर अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाज-नीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्य-ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस सहानुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्त्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने-आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्मान्दोलन भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा

आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना-बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व मिलता है अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार में तो मुझ-जैसे कोटि-कोटि आदमी अथवा अन्य जीवधारी भी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? इस अनेक में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए ज़हर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता। किसी की बुराई नहीं चाह सकता। किसी को झूठा नहीं कह सकता। घमण्ड नहीं कर सकता। आदि कर्त्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्त्तव्य कुछ आ जाय—तर्क सुझायेगा कि—यथार्थ भी तो मैं देखूँ। आँख सब ओर से मूँदी नहीं जा सकती। वह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुत सूक्ष्म जीवों को असुविधा नहीं होती, उनका नाश नहीं होता? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ? लेकिन आहार में कब हिंसा नहीं है? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहें कि कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूट कर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से साफ़ सार तत्त्व को पहचान लेगा कि जीव-नाश अनिवार्य है। जीवन एक युद्ध है और उसमें बल की ही विजय है। वह बल जिस पद्धति से विजयी होता, यानी जीवन-गति पाता है, उसका नाम है हिंसा। मज़बूत के तले सदा निर्बल दबता आया है, और इसी तरह विकास होता आया है।

मेरे खयाल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है, रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है, और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में हर काल में कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरु-क्षेत्र में मैं क्या करूँ? किसको तजूँ, किसको वरूँ? अनिष्ट को कैसे हराऊँ? अनिष्ट क्या है, क्या वह अमुक अथवा अमुक नामधारी है? वही है, या कि वह कुछ मेरे भीतर है।

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, दुश्मन को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चलने का बढ़ावा देती है। दूसरी, जो स्वयं

अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आ गई हुई बुराई को दूर करना चाहती है। ऐसा वह आत्म-संस्कार द्वारा करती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। उस श्रद्धा के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधीजी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट ही जाय, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पलभर के लिए भी यह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन का और मौत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधार-शिला प्राप्त हुईं:—

(१) ध्येय : सत्य।

क्योंकि ध्येय और कुछ हो नहीं सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयं है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही परमेश्वर।

(२) धर्म: अहिंसा।

क्योंकि इस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है

वह अहिंसा ही है।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक चित्तत्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना हो नहीं पाता, नकार की परिभाषा ही हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉजिटिव संज्ञा ठीक नहीं ढक पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका बाह्य रूप भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉजिटिव) शक्ति क्या है? फिर भी पारमार्थिक और लौकिक प्रेम में अन्तर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निशेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय पदार्थ नहीं है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। यहाँ कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों - सत्य-अहिंसा- के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया। लेकिन अब करना क्या होगा? तो उसके लिए है:—

(३) कर्म : सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर तो बढ़ते रहना है। इसी में गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य यानी करने की बात आ जाती है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहाँ विनय भाव नहीं है वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। अविनय यानी हिंसा हो वहाँ सत्याग्रह शब्द

का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्तःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, उस पर डटी रहने वाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह। किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुँचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहाँ अविनय भाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जब कि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों के बीच जन्म पाता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सँकरा प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसको करके मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

इस भांति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ण-चित्र तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। स्वर्णोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थजन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं

लपकता और परिणाम व्यक्ति-विक्षोभ और विग्रह पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वकांक्षा की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्म-शील तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानो अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में वह भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपाधापी और बढ़ा-बढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective facts) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संघटन क्या हो? आवश्यकता और अधिकार का, उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूँजी कैसे निपटें? इत्यादि।

तो प्रश्न-कर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायँगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घेर लेने और हतबुद्धि होने की आवश्यकता नहीं। फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि में ही हो जाने वाला नहीं है। सब सवालों का हल बताने वाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं देगी। इससे विचार-धाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न हैं उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निपटते जायँगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त में मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फ़रेब था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं का-वहीं

छोड़ गया है। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहस-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने आप में ज़रूरत नहीं है। उन में जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धि-क्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है वह है 'स्वदेशी'।

'स्वदेशी' द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर माँगी जाती है। इस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगों को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ौसीपन पनपे। पास-पड़ौसपन (Neighbourliness) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है, भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर परिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ौसी से टूटूँ नहीं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाज-नीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशालता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तत्त्व पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची जो पड़ौसी के प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रखे तो बड़े पैमाने पर चलने वाला यान्त्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल

कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों में बँटने लगता है। वे दोनों एक दूसरे को ग़रज़ की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। मिल-मालिक मज़दूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है, जिससे ख़ुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मज़दूरों की आँख में मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पड़ोसपन के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Materialistic) नीतियाँ अन्ततः यहाँ पहुँचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढ़ने और फूलने की गुंजाइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक चतुराई का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आस-पास मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य न होगा और शोषण-वृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भांति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य निषेध और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तःशुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलने वाली गांधी-नीति के स्वदेशी सिद्धान्त से स्वयमेव प्राप्त होती हैं। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आ जाय तो भले आ जाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी' पूँजी-वाद को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State Capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एक-तन्त्रीय शासन। यांत्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आने वाला है। यानी ऐसा समाजवाद एक-तन्त्रवाद (फासिज़्म) आदि को बुलाकर ही रहेगा। गांधी-नीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संक्षेप में गांधी-नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय समस्त से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज और विश्व के साथ सामन्जस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जावे उतना अपनी और संसार की बन्धन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्म-मयी और शान्ति-लक्षी ही होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का स्थिर धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक क़दम बस काफ़ी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक क़दम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से कहाँ भिन्न हो सकता है। इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म का श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा। अन्यथा नहीं। सबके मन में एक जोत है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाए चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा ठीक होगा। राह का अन्त नाप राही, तुझे तो चलना है।

मूल्यांकन

हम विशेषणों द्वारा वस्तुओं को एक-दूसरे से विशिष्ट करके पहचानने के आदी हैं। यह अच्छा है, यह बुरा है; यह छोटा है, वह बड़ा है। इस तरह उनमें निस्बत पैदा करके हमारी समझ चला करती है। हम चीज़ों को क़ीमतें देते हैं, किसी को कम, किसी को ज्यादा। किसी को एक तरह की कीमत, दूसरी को दूसरे तरह की क़ीमत। उन्हीं क़ीमतों को ओढ़कर वे चीज़ें हमारे पहचानने में और काम में आती हैं।

लेकिन क़ीमतें हमारी दी हुई होती हैं न? और हम स्थिर नहीं हैं, गतिशील हैं। इससे क़ीमतें भी अचल नहीं हैं। उनमें अन्तर आता रहता है।

उन क़ीमतों में तरतमता रखने के लिए कुछ इकाई की ज़रूरत हुआ करती है। एक पैमाना चाहिए, जिस पर छोटा-छोटा और बड़ा-बड़ा उतर सके। वैसा कोई दोनों पर लागू होने वाला पैमाना न हो तो हमारे विशेषण व्यर्थ हो जायँ और उनसे हमें कुछ भी सहायता न मिले।

लेकिन विशेषताएँ तरह-तरह की हैं। कपड़े को जैसे हम गज़ से नापते हैं, दूध को वैसे नहीं नाप सकते। उसे तौलना होता है। और दुःख-सुख को हम न सेर-छटाँकों और न गज़-इंच में नाप सकते हैं। उसका निर्णय और तरीक़े से होता है,

इस तरह भिन्न वस्तुओं को एक-दूसरे की अपेक्षा में देखने और समझने के भिन्न मान हमने कायम किए हैं। दूध को कपड़े के मुकाबिले में देखने की आवश्यकता साधारणतः हमें नहीं होती। उनकी अतः विविध श्रेणियाँ हम मान लेते हैं।

फिर भी जब ऐसी आवश्यकता उपस्थित हो जाती है, तो दोनों को एक तल पर लाने के लिए हमने पैसे का मान बना लिया है। सेर भर दूध दो आने का है और उधर दो आने में आधा गज़ कपड़ा आता है, तो हम मान लेते हैं कि दोनों बराबर हैं। न दूध ज्यादा है, न कपड़ा ज्यादा है।

यह प्रयोग व्यवहार में बहुत काम आता है। व्यवहार नाम अदल-बदल का है। देन-लेन के आधार पर दुनिया चलती है। और वस्तुओं में तरतमता स्थापित करने के लिए हम कोई सामान्य नियम या उपादान खोज लेते हैं तो उससे व्यवहार में सुगमता हो जाती है। ऐसे सौदा सहज बनता है और झंझट कम होती है।

ध्यान रहे कि जो नियम वस्तुओं को अमुक और भिन्न मूल्य प्रदान करता है, वह अपने तल पर उनका एकीकरण भी करता है। पैसे के आगे क़ीमत के लिहाज़ से दूध का दूधपन और कपड़े का कपड़ापन गौण हो आता है; दोनों एक तल पर आ जाते हैं और मुख्य प्रश्न यह हो रहता है कि पैसे के माप में कौन कम-अधिक है।

पर व्यवहार का काम जितने से चल जाता है, विज्ञान का काम उतने से नहीं चलता। आज का विज्ञान कल के व्यवहार का आधार है। इसलिए विज्ञान व्यवहार के प्रचलित मूल्यों से आगे जाता है। उसे और भी गहरे एकीकरण की आवश्यकता है। वह तात्कालिक व्यवहार से आगे देखने को बाध्य है, क्योंकि सौदा नहीं; दृष्टि की स्पष्टता और विस्तृति उसका लक्ष्य है। इसलिए विज्ञान व्यवहारिक मूल्यों को अलग-अलग थामने वाले उस मूल नियम को भी पाना चाहता है जो सब अनेकता को एक में ढाल दे।

सोना सोना है, पीतल पीतल है। लेकिन विज्ञान यह मानकर चुप नहीं है। उसे तो सोने के सोनेपन और पीतल के पीतलपन में राग-द्वेष नहीं है। उसे कोई उनके तात्कालिक मूल्य-भेद में आसक्ति नहीं है। इसलिए सोना और पीतल दोनों उसकी निगाह में एक-से हैं और उसकी लगन का लक्ष्य वह तत्त्व है जिसकी अपेक्षा में दोनों में दो-पन नहीं रहता। सोने को वह अणु-परमाणु बनाकर देखेगा? जहाँ उसकी स्वर्णता नहीं टिक सकेगी, और पीतल को भी उसी अणुरूप में वह देखेगा। अणु न पीतल है, न सोना है।

इससे आवश्यकता है कि हम व्यवहार में जिन विशेषणों को लेकर काम चलाते हैं, उनकी असलियत समझने के लिए उस अविशेष्य को ध्यान में लाने की ओर बढ़ें जो उन विशेषणों को थामता है। मूल्य-भेद को जानने के लिए उस अमूल्य को जानें जो मूल्यातीत होने के कारण ही सब मूल्यों को सम्भव बनाता है। इस विषय में पदार्थ-विज्ञान की गति भी उसी दिशा में है, जो मानव-ज्ञान की प्रगति की दिशा है। विज्ञान उस सूक्ष्म को चाहता है, जो पदार्थ के पदार्थत्व की इकाई है। मानवज्ञान भी उस इकाई की साधना में लीन है, जो हमारी अनेकता के मूल में है।

हम यहाँ उस निगाह से उन विशेषणों की छान-बीन करना चाहते हैं, जो मानव को मानव से अलग और विशिष्ट करने के काम में आते हैं।

तरह-तरह के शब्दों से हम आदमियों में भेद चीन्हते हैं। कुछ विशेषण उनमें सामाजिक हैं और परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं: जैसे अमीर और ग़रीब, ब्राह्मण और शूद्र आदि ऐसे (सामाजिक) स्थिति-द्योतक शब्दों पर हमें इस समय नहीं अटकना है। भाव-वाचक विशेषणों से ही हमें प्रयोजन है।

आशय यह नहीं है कि सामाजिक का प्रभाव भावात्मक संज्ञाओं पर नहीं है। न-न, सो तो ख़ूब है। शूद्र वैसा होने के कारण ही बुरा कहा जाता है न, और ब्राह्मण उसी कारण पवित्र? और अमीर के सब दोष

गुण हैं और ग़रीब की सबने बुराई की है ! लेकिन वह तो विकृति है हम उधर से हटकर कुछ असंलग्न निगाह से देखने-समझने का प्रयास करना चाहते हैं ।

हम कहते हैं कि यह बहुत नेक आदमी है, और वह बहुत बुरा आदमी है ।

इसी तरह : अमुक पुरुष सभ्य है, दूसरा अशिष्ट है ।

और : उस व्यक्ति में शक्ति है, दूसरा पोच है, उसमें व्यक्तित्व नहीं है ।

ऊपर ये तीन कोटि के विशेषण दिये गए । पर असल में वे साथ-साथ चलते नहीं दीखते । वे आपस में कभी, बल्कि अक्सर, आर-पार होकर काम करते प्रतीत होते हैं ।

कहने में आता है कि वह आदमी बड़ा भला है, कैसा गऊ है । लेकिन उसे ही गिनती के वक्त गिनती में हम नहीं लाते । अवसर होने पर कहते हैं कि ऊँह, वह कोई आदमी-में-आदमी है, बिचारा भला है ; लेकिन कुछ है नहीं । दूसरी ओर जिसे बुरा मानते हैं, मौक़ा पड़ने पर भले आदमी से भी अधिक उसका ख्याल हमें रखना होता है । कहते हैं कि वह शख्स है बदमाश; लेकिन भाई है ज़बरदस्त । उसे शुमार में लाये बिना हम नहीं रह सकते ।

अच्छा—और—बुरा और दीन—और—समर्थ, विशेषणों की ये दो जोड़ियाँ आपस में आर-पार हो जाती हैं, परस्परापेक्षा उन्हें नहीं है । बुरा आदमी समर्थ हो सकता है और भला आदमी दीन । एक लिहाज से यदि भला आदमी स्पृहणीय समझा जाता है, ख़ास तौर से बात या विचार करते वक्त; तब दूसरी दृष्टि से समर्थ आदमी ही गणनीय होता है, ख़ास तौर से जब किसी काम के मामले की बात हो ।

लेकिन संज्ञाएँ हैं जो इन नित्य-प्रति के विशेषणों को उल्लंघन करके इतिहास में टिकती हैं । वह कुछ भिन्न हैं । ऐतिहासिक पुरुषों के मूल्यांकन के लिए रोज़ के विशेषण काम नहीं आते । इतिहास के विशिष्ट

पुरुषों को कहना होता है : महापुरुष।

महापुरुष भला हो सकता है और बुरा भी हो सकता है; शिष्ट हो सकता है और असभ्य भी हो सकता है; चतुर हो सकता है और अकुशल भी हो सकता है। असलमें वह इन विशेषणों से ढका रहने योग्य नहीं होता। वह स्वयं होता है और इन विशेषणों को अपनी चिन्ता रखने की छुट्टी दिये रहता है।

हम यहाँ उसी तत्त्व को समझना चाहते हैं, जो विशेषणों के द्वित्व से गहरे में है, उनसे अतीत है, और जो बदलते हुए हाट-बाट के मूल्यों के बीच स्थायी होकर विराजमान है। जो सापेक्ष्य नहीं है और बस स्वयंभव होकर सम्भव है।

बुरे मनुष्य को जानने के लिए हमें अच्छे को पाने की ज़रूरत है। कोई बुराई अपने में नहीं टिक सकती। बुराई प्रतिक्रिया है। इसलिए ऐसे द्वन्द्वात्मक विशेषण किसी कदर कृत्रिम विशेषण हैं। उनमें रुचि और अरुचि प्रकट होती है। वे वैज्ञानिक नहीं हैं। और यथार्थता को पकड़ने में मददगार बहुत कम हो सकते हैं।

नीम का पेड़ बुरा है; क्योंकि नीम का पत्ता हमें कड़वा लगता है। वही नीम का पेड़ अच्छा है, क्योंकि अमुक वैद्य ने बता दिया है कि उसके पत्ते पित्त को फ़ायदा पहुँचाएँगे। तो यह प्रयोजनाश्रित विशेषण विशेष दूर हमें न पहुँचा सकेंगे। व्यवहार में वे जितने उपयोगी हो सकते हैं, व्यवहार से अलग होकर उनका उपयोग उतना ही मन्द हो जाता है।

इसलिए यह तो मानकर चलना चाहिए कि अच्छा-बुरा कोई नहीं है। क्योंकि हमें साम्य-पूर्वक सबके प्रति प्रीति की वृत्ति रखनी है। मानव-सत्य के सम्बन्ध में इसी वृत्ति-पूर्वक चलने से हम कुछ पा सकेंगे। अन्यथा हम कहीं भी नहीं पहुँच सकेंगे, शब्द-व्यूह में निरा चकराना ही हाथ रह जायगा।

यहाँ आसानी के लिए इतिहास की जगह (क्योंकि इतिहास परोक्ष

है) पास के उद्यान को ले लीजिए।

उस उद्यान में विशाल एक बड़ का पेड़ है, जिसमें ऊँचाई विशेष नहीं है, पर विस्तार ख़ूब है। वह ऐसा घना है ऐसा छायादार, कि शत-सहस्र जन उसके तले विश्राम पा सकते हैं। पुराना ख़ूब, जटाएँ बहुत; और तना उसका इतना बृहदाकार है कि क्या पूछिए।

उसे अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, जो जिसे भाये कह ले। पर हमें और बात कहनी है। वह अच्छी-बुरी नहीं है, सुन्दर-असुन्दर नहीं है। वह यह है कि पेड़ जितना और जो हमारी आँखों को दीखता है, वह उतना और वही नहीं है। उसकी समूची इयत्ता मन में बैठाने के लिए कुछ उसको भी ध्यान में लेना होगा; जो स्वयं तो अदृश्य है, फिर भी जो उसके दृश्य-भाग को थामे हुए है। यानी उसकी जड़ों को भी समझना और हिसाब में लेना होगा।

मैं कहना चाहता हूँ कि जिसने अपने भीतर के जितने अधिक भाग को बाहर जितने अधिक अंश से मिला दिया है, और ऐसा ही मेल जिसके द्वारा जितना अधिक व्यक्त हुआ है, वह उतना ही मननीय और माननीय है।

पेड़ का बीज पड़ा। धरती के संयोग से रस पीकर उसने अपने दलों को फटने दिया। किल्ला उगा। ऊपर की हवा उसने ली और धूप सेंकी। नीचे धरती में से भी उसने अपना पोषण खींचा। किल्ला बढ़कर पौधा हुआ। पौधा दरख़्त। वह बीज इस बीच कहाँ गया? पर वह तो कब का मुक्त हो चुका। किल्ला जब फूट चला कि बीज ने तभी कृतार्थता पा ली। जिस धरती में मुँह गाड़कर उसने वास किया था, वहाँ अब दूर-दूर तक गहरी उसके वंश की जड़ें फैल गई हैं। जितनी गहरी और घनी भीतर जड़ें हैं, उतना ही विशद और विस्तृत बाहर फैलता हुआ उसका आकार है। अतः वृक्ष की सम्पूर्णता जड़ों के अभाव में नहीं समझ में आयगी।

अमुक वृक्ष बड़ा है, क्योंकि धरती में चोटी तक वह इतना ऊँचा

नपता है; यह कथन अशुद्ध नहीं है। पर यह कथन काफ़ी प्रयोजन-परिमित और स्थूल है। कहीं ऐसा न समझ लिया जाय कि कोई एक-दम धरती से उठकर उतना ऊँचा खड़ा हो सकेगा या कि ऊँचाई इस दीखने वाली धरती से ही आरम्भ होती है। नहीं, नहीं। दीखने को जड़ें नहीं दीखतीं; लेकिन ऊँचे दीखने के लिए नीचे की जड़ें बहुत आवश्यक हैं।

इस नीचे की निचाई और ऊपर की ऊँचाई को जो अपने-पन से एक में मिलाये रखता है, वह उतना ही महत्व सम्पादन करता है। 'ऊपर'-नीचे' तो हमारी संज्ञाएँ मात्र हैं। पाताल में समाये दरख़्त की जड़ का छोर और उसके चरम शीर्ष का ओर, असल में तो दोनों एक ही हैं। वृक्ष की जड़ आस-पास से वह रस खींचकर ऊपर भेज देती है और उस वृक्ष का मुकुट मौर अतरंग से उसी ऊर्ध्वगामी रस का कृतज्ञ है। और सूर्य-दर्शन पर अपने हर्ष का सम्वाद नीचे पहुँचाता रहता है।
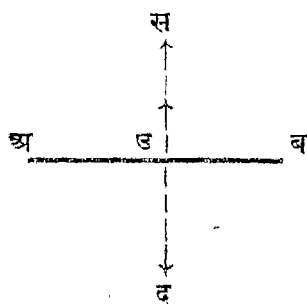
साथ के चित्र में 'अ-ब' रेखा से ऊपर का भाग दीखता है और उतने ही को हम वृक्ष कहते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि स-उ रेखा की अपनी कोई सत्ता नहीं है। स-द यह तमाम एक रीढ़ है, एक सत्ता है। और उ बिन्दु से व्यक्त और अव्यक्त का सन्धि-बिन्दु ही है। वह स्वयं में कोई आदि अथवा अन्त नहीं है। मात्र अ उ ब हमारे व्यवहार का धरातल है। इस दृष्टि से उ स को हम वृक्ष की ऊँचाई कहें तो कह

सकते हैं। अन्यथा तो उ बिन्दु यथार्थता में कहीं है नहीं। एक अनिर्दिष्ट और अनिवार्य रस-प्रवाह के द्वारा स और द आपस में अभिन्न भाव से एक हैं। जो स की प्रकृति है, वही द की प्रकृति है, द की अनुभूति स की अनुभूति होती है। उ बिन्दु स द के मध्य विभाजक बिन्दु किसी भी भाँति नहीं है। स द की एकता अविभक्त और अखण्ड है।

इससे यह कहा जा सकता है कि उ स की ऊँचाई को उ द की निचाई सँभाल रही है। नहीं तो, उ द के अभाव में उ स का कोई अर्थ ही नहीं रहता। निचाई से टूटकर ऊँचाई कोई चीज़ नहीं होती।

असल में स और द बिन्दुओं के मध्य जितनी जीवित और घनिष्ठ एकता है, उतना ही उस दरख़्त को मज़बूत कहना चाहिए।

स्पष्ट है कि वर्द्धनशील वृक्ष में द और स बिन्दु स्थायी नहीं हैं। द और गहरा जायगा, स और ऊँचा चढ़ेगा, और दोनों दूर हटते रहकर एक और अभिन्न बने रहेंगे। इसी के परिणाम से वृक्ष बड़े-से-बड़ा होता जायगा। वह उस समय तक बढ़ता जायगा, जहाँ तक कि स और द में अभेद सम्बन्ध कायम रह सकेगा। जिस हद से आगे बढ़ने पर स और द की परस्परोन्मुखता और एकता टिक नहीं सकेगी, वृक्ष के विकास की भी वही हद होगी।

मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। जो हमारी आँखों के सम्मुख ऊँचा उठा हुआ मालूम होता है, उसका अपने अन्दर उतना ही गहरा होना लाज़मी है। गहराई में मज़बूती है, तो उसका बड़प्पन भी स्थायी है। नहीं तो किसी प्रकार का बड़प्पन अव्वल तो सम्भव नहीं है; हो भी, तो वह कृत्रिम है, टिकाऊ नहीं है।

मानवी महत्ता इसलिए वह व्याप्तिशील एकता है, जो व्यक्ति अपने व्यक्त और अव्यक्त में साधना द्वारा सम्भव बनाता है।

अ ब से दक्षिण की ओर, अव्यक्त है; उत्तर में व्यक्त। लेकिन व्यक्ताव्यक्त का भेद हमारी परिमिति के कारण है। स उ, उ द यथार्थ में एक हैं। इससे हर बड़े आदमी के लिए, अनिवार्य है कि वह ऊँचे

चढ़ने के लिए अपने अन्दर की निचाई का त्याग न करे (जो कि हो भी नहीं सकता) बल्कि उसको ऊँचाई के साथ एक-धारागत करे।

इसी बात को दूसरी भाषा में सुबोध करके समझें!

हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाएँ हैं, तरह-तरह की वृत्तियाँ हैं। उनको हमने 'सु' और 'कु' में बाँटा है। कुछ गुण हमारे लिए दुर्गुण हैं, कुछ अन्य स्पृहणीय गुण हैं। क्रोध बुरा है, ब्रह्मचर्य अच्छा है आदि।

'कु' को हम मिटाना चाहते हैं, 'सु' को सफल करना चाहते हैं। लेकिन जब तक 'सु' और 'कु' को एकान्त रूप में परस्पर विलग और विरोधी समझा जायगा, तब तक अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी। 'सु' और 'कु' विशेषणों द्वारा विशेष्य जो तत्त्व है, वह तो एक ही है। विशेषण प्रयोग-भेद से हैं। चैतन्य चैतन्य है। जैसे विद्युत् विद्युत् है। दुष्प्रयोग से जैसे बिजली घातक हो सकती है, वैसे ही दुरुपयुक्त चेतन-शक्ति अपराध-मूलक हो जाती है। लेकिन पाप में अथवा पुण्य में व्याप्त आदि-शक्ति तो एक ही है। वह स्वयं न पाप है, न पुण्य है।

मेरे ख़याल में पाप और पुण्य के ओर और छोर में जो सम-भाव से एक-चित्-सत्ता प्रवाहित हो रही है, जो जितना उसके साथ सहज रूप से एकात्म होता है, वह उतना ही सार्थक सफल और विराट होता है।

व्यक्तित्व में से खुरचकर और छीलकर तो कुछ निकाला नहीं जा सकता। कुचलकर कुछ मिटाया भी नहीं जा सकता। सत् असत् नहीं हो सकता। जो इसी प्रयास में लगे हैं, वे असाध्य की साधना के पीछे हैं। वे चेतन को जड़ बनाना चाहते हैं, जैसे कि यह सम्भव भी हो। जब हम जड़ समझे जाने वाले पदार्थों में नित्यप्रति उस शक्ति का प्रादुर्भाव देख रहे हैं जो चित् है, अर्थात् जब जड़ कुछ रहता ही नहीं जा रहा है स्वयं चेतन-स्वरूप हो रहा है, तब कोई अपने को जड़ बना सकेगा, इसकी सम्भावना ही समाप्त हो जानी चाहिए।

इससे जो करना है वह यह, कि असत् को ही हम असत् जान लें। और असत् है द्वित्व। अगर हम समूचे व्यक्तित्व में एकता ले आएँ, तो इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। इसमें 'कु' स्वयंमेव 'सु' बन रहेगा।

जो हम में से बड़ा बना, जाने-अनजाने उसने-अपने भीतर वही एकता की साधना की। एक निष्ठा को उसने पकड़ा और अपने भीतर के सब गुणों का समर्पण उस निष्ठा के प्रति कर दिया।

जो अपने अंग काटता है, वह उस कारण कुछ हीन ही बनता है। विराट पुरुष, पूर्ण पुरुष, व्यक्तित्व के काट-छाँट के मार्ग से नहीं बना करता। ऐसे तो मानव महान् नहीं, बनावटी बन कर रह जाता है। उसमें कोगे निकल आते हैं और पूर्ण की अनिर्वचनीय सुघराई तो पास नहीं फटकने पाती।

कोयला अपने को खुरचकर और काटकर आग कभी बन सका है? अपने भीतर सुलग जगा ले तो उसकी समूची-की-समूची काली देह दमक कर सुर्ख हो आती है। है तो यही उपाय, नहीं तो कोयले के लिए अपने कालेपन से छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। असल में तो उसकी यह समझ ही भूल है कि वह काला है। जब तक वह यह समझता है, कालिमा से उसका छुटकारा असम्भव है। पर वह यह क्यों नहीं जान ले कि वह कालापन ही उजलापन है, अगर बस कहीं आग की चिनगारी वह अपने भीतर बैठा ले!

इतिहास के मान्य पुरुष अगर ऊँचे थे, और बड़े थे, तो निश्चित रूप में इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने नीचे की निचाई को काटकर अलहदा कर दिया था। देह को काट-फेंककर कोई स्वर्ग के दर्शन नहीं कर सकता। उन लोगों ने भी कुछ अपने में से काटकर नहीं फेंक दिया। ऐसा करके ऊँचाई नहीं हाथ आ सकती, अपंगता ही गले पड़ सकती है। अव्यक्त को दबाकर व्यक्त उभरता नहीं है; बल्कि वह भी ऐसे निस्तेज बनता है। जो तेजोमय बन सके उन्होंने अपने निम्न को अपने

ही उच्च की सेवा में नियोजित कर लिया, निम्न को उच्च के, और उच्च का निम्न के साथ सामन्जस्य साधा; और दोनों को मिलाकर एक कर लिया। उच्च को उच्चता के गर्व में बन्द न रहने दिया। और निम्न को निम्नता की जकड़ से उबारा और दोनों में एक ही लक्ष्य की निष्ठा जगा दी। उस जाग से सब प्रोज्ज्वल हो गया। ऊँच-नीच न रहा, 'सु' और 'कु' भी न रहा। दहक में दहककर सब ज्योतिर्मय हो चला।

मैं यही कहना चाहता था कि जिसने जितने तीक्ष्ण विरोध को मेल में मिला दिया है, जिसने जीवन में जितना व्यापक समन्वय साधा है, वह उतना ही महान् हो रहा है। प्रत्यक्ष को परोक्ष से, व्यवहार को अध्यात्म से और स्पष्ट को रहस्य से जितना मिलाकर जिसने देखा है, और दोनों को अपने जीवन में जितना ओत-प्रोत कर लिया है, वह उतना ही इष्टोपलब्धि के निकट पहुँचा है। वह अपने में आँख डालकर गहरा गया है। और इसीलिए जब वह आँख बाहर की ओर मुड़ी है तो वहाँ भी ग्रन्थियों की आवश्यकता को भेदती हुई दूर तक चली गई है। उसने भीतर एकता पाई है, इससे बाहर के जन्जाल को भी हटा पाया है। जहाँ गहराई नहीं, वहाँ ऊँचाई नहीं। और लौकिक सफलता के लिए भी रहस्य की अभिज्ञता चाहिए।

मनुष्यों में मूल्य-विभाजन करने के लिए जो नियम तमाम इतिहास में काम देगा, जो कभी ओछा और पुराना नहीं पड़ेगा, वह यही एकता की परिभाषा-वाला नियम है। द्वित्व और द्वन्द्व द्वारा सम्भव बनने वाले विशेषण पर्याप्त न हो पाएँगे। वे विभक्त कर सकेंगे, संयुक्त नहीं, वे अनेकता में व्याप्त सम-सामान्य तत्त्व की एकता तक हमें नहीं पहुँचा सकेंगे। इससे कुछ दूर तक यदि वे हमें साधक होंगे, तो उसके बाद वे ही बाधक हो रहेंगे।

और वैसे विशेषण ओछे पड़ जाते हैं, तब हम कहते हैं कि अमुक पुरुष महापुरुष है। वह चतुर है, भला है, शिष्ट है, आदि पद जैसे उस व्यक्ति की महिमा को बहुत अधूरा भी प्रकट नहीं करते हैं। महा-

पुरुष अवतारी पुरुष अच्छे-भले नहीं होते, क्योंकि वे महान् होते हैं, अवतारी होते हैं। उनका महत्त्व द्वन्द्वज विशेषणों से ऊपर है।

महत्ता का इसलिए अर्थ है व्यापक एकता। महान् व्यक्ति की सत्ता सिमटी हुई नहीं होती। ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ चहुँ ओर वह फैली रहती है। वह अवैयक्तिक होती है। पर व्यापक होकर शिथिल नहीं, बल्कि अतिशय एकनिष्ठ और सुगठित होती है। उस व्यक्तित्व का निम्नतर स्तर भी किसी-न-किसी भाँति उसकी सर्वोच्च आकांक्षाओं में सहयोगी होता है और उसके स्वप्न व्यवहार से उच्छिन्न नहीं होते।

आवश्यकता है कि विचारों और आदर्शों के आज के मध्य हम उस प्राथमिक मूल्यांकन के नियम की प्रतिष्ठा करें, जो बहुलता को एकता तक ले आए। नहीं तो मतादर्शों (देवी-देवताओं) का ऐसा जमघट लगेगा कि पूजा भूल जायगी और विचार ही एक काम रह जायगा। जो निराकार और निर्गुण है, विविध वादों के बीच उस अद्वैत आदर्श को फिर याद करने की आवश्यकता है। नहीं तो उन-उन देवी-देवताओं के नामलेवाओं से घिरकर सत्य को चीन्हना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। सबके अपने-अपने देवता हैं। हरेक के देवता दूसरे से बढ़कर हैं। ऐसी हालत में जिज्ञासु किसको लेने के लिए किसे छोड़े? और बचे तो बचकर किधर जाय?

मैं कहना चाहता हूँ कि जिज्ञासु को व्यापक एकता के बीज को हृदय में धारण कर लेना चाहिए। तब वह निर्भय है। उसके प्रकाश में और उसकी अपेक्षा में विविध मतवादों के मध्य की विवाद-जनित पेचीदगी उसे हल दिखाई देगी और उन सबको अपना-अपना मूल्य देने में उसे कठिनाई उपस्थित नहीं होगी।

दुःख

अभी ख़बर मिली है कि मित्र मर गए। अचानक दर्द हो आया और पाँच मिनट में दिल की धड़कन बन्द हो गई। कल शाम हम मिल-हँस रहे थे। आज वह सदा के लिए लुप्त हो गए हैं। मैं अब दुखी न हूँ तो क्या हूँ ?

एक पड़ोसी की लॉटरी खुल आई। उन्होंने सुना तो बेहद खुश हुए। पर वह खुशी हलकी पड़ रही है और उन्हें दुःख होता आता है कि पहला इनाम उनके नाम क्यों नहीं निकला।

पास के मकान वाले लाला को पार साल सट्टे में पचास हज़ार बचे थे। इस साल दस हज़ार निकल गए। वह दुखी हैं।

उनकी स्त्री अनमनी रहती हैं और बीमार रहती है। पहली पत्नी आत्मघात कर गईं। बड़ा लड़का झिड़की खाकर और धमकी देकर अलग हो गया। उसे शराब की लत पड़ी और अब पागलखाने में है।

इसी तरह लोग जेल में, अस्पताल में, दुनिया में तड़प रहे हैं और जी रहे हैं।

सो जग में दुःख की कमी नहीं। सभी दुखी हैं।

ऐसा मालूम होता है कि दुःख शर्त है। उसी शर्त के साथ जीवन मिलता है। जो है, वह दुखी भी है। धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र उस दुख को भूल मान कर उससे छुटकारे के प्रयत्न को पुरुषार्थ मानते

हैं। दुःख की प्रवृत्ति मोक्ष है। मोक्ष की संज्ञा ही हुई निर्वाण।

दुःख से छूटने के लिए नाना साधनाएँ बताई गई हैं। इतने मत, इतने मार्ग हैं। पन्थ अनेकानेक हैं। पर लक्ष्य में सब एक हैं। सबको दुःख के नाश और अक्षय सुख की खोज है।

उसी भाँति अनेक दर्शन दुःख की अनेक विधि मीमांसा करते हैं। उनकी निदान की परिभाषाएँ भिन्न हों; पर इष्ट हरएक का अभिन्न है। सब बुद्धि को शान्त करना चाहते हैं। बुद्धि शंका, प्रश्न द्वारा दुःख उपजाती है। और वे सब तरह की शंका, सब तरह के प्रश्न उत्पन्न करके उनका कुछ-न-कुछ मुँह-बन्द जवाब दे देना चाहते हैं।

इनमें कौन ठीक है, कौन गलत है? स्पष्ट है कि लक्ष्य में सब ठीक हैं। और लक्ष्य के अतिरिक्त अपने में ही आग्रह रखने पर वे सभी ग़लत भी हो सकते हैं।

'इस भाँति दुःख कर्म में से पैदा होता है, या दुःख कामना में से पैदा होता है, या दुःख निसर्ग से प्राप्त है, आदि-आदि मन्तव्य तभी अर्थकारी हैं, जब वे दुःख काटते भी हैं। दुःख नहीं काटते तो वे शब्द-भर हैं, उनमें सार नहीं। सार-भूत ज्ञान शाब्दिक नहीं होता, वह भावात्मक होता है। इसलिए दुःख को अनुभूति की अपेक्षा में ही समझा और खोला जा सकता है। केवल तत्त्व-ज्ञान में ही दुःख का समाधान नहीं है; क्योंकि न दुःख कोई (सत्) तत्त्व है और न ज्ञान में दुःख का निवास ही है। दुःख बाहर नहीं, अन्दर है। और जिसकी तत्त्व बनाकर मीमांसा की जाती है, उसे अपने से बाहर अलग स्थापित करके देखना होता है। जिसे अपने से अलग हम जान सकते हैं, या फिर जिससे अपने को अलग जान सकते हैं, वह वस्तु दुःख तो रह ही नहीं जाती। अपने को और उसको अलग देख लेना भर ही दुःख की दुःखता को नष्ट कर देना है। इसलिए दुःख है, तो तात्त्विक रूप में उसका निदान खोजना बस नहीं है। उसे काटने के लिए तत्त्व-चिन्तन से अधिक अमोघ उपाय की आवश्यकता है।

रोगों के मानसिक उपचार की पद्धति आजकल चल निकली है। वैसा उपचार घटनीय और घटित पहले भी था; पर अब उसे विधिवत् वैज्ञानिक रूप मिलता आता है। उस पद्धति का सार सिद्धान्त है कि रोग से अवगत हो जाना ही उस रोग से छुट्टी पा लेना है। आत्म-ज्ञान ही स्वस्थता है।

हमारे अन्दर चेतना में कुछ गाँठें पड़ जाती हैं। वहाँ उलझन पैदा हो जाती है। उसका प्रकट फल व्याधि है। चेतना प्रवाहशील तत्त्व है। अगर उसमें पैदा हुई ग्रन्थियाँ खुल जायँ, रुकावटें हल हो जायँ, और उलझनें सुलझ जायँ तो चेतना यथा-स्वभाव बह निकले और रोग दूर हो जाय।

गाँठें किसी दबाव के कारण होती हैं। हमारा अवचेतन स्तर चेतन मस्तिष्क के अनुकूल नहीं होता। मस्तिष्क के दबाव से उस स्तर में कुछ कुण्ठा और विरोध पैदा हो जाता है। वैसा दबाव और प्रतिकूलता न रहे और अवचेतन स्तर अपने को व्यक्त कर सके, यानी उसे चेतन में आने दिया जाय, तो ग्रन्थि खुल जाती है, कुण्ठा दूर हो जाती है और स्वास्थ्य-लाभ होता है।

मनोविज्ञान आज प्रयोग द्वारा यह बतला रहा है। उस आधार पर व्यावहारिक रूप में रोगों का उपचार किया जा रहा है और उसमें जो सफलता मिली है, वह कम-अधिक अचूक समझी जाती है। मानसिक उपचार-शास्त्र अटकल की बात अब नहीं। वह विज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष है। फ्रायड साहब ने अपना जीवन लगाकर उसको वैज्ञानिक स्तर पर मज़बूती से ला खड़ा किया है।

और उसमें अविश्वसनीय कुछ भी नहीं है। शरीर, मन और मनातीत हमारी सूक्ष्म चेतना इनकी अलग-अलग तीन सत्ताएँ नहीं हैं। शरीर के रोग में मन का हाथ होता है और 'आत्मा' भी अछूती नहीं होती। असल में तो तीनों में अविरोध है। अविरोध ही नहीं, अभेद तक है। लेकिन हमारे साथ अधिकांश यह अभेद सिद्ध नहीं है। हमारे

भीतर इनमें विरोध उपस्थित होता रहता है और संघर्ष होता है।

व्यक्तित्व के भीतर ऐसे विरोध का नाम ही दुःख है। जब व्यक्तित्व एक ओर एकत्रित और एकोन्मुख नहीं होता, उसमें द्विधा और द्वित्व होता है, तब दुःख और क्लेश उत्पन्न हो आता है। द्वन्द्व जितना तीव्र, दुःख उतना ही विषम। वह जितना फीका, दुःख भी उतना ही हल्का!

इसके अतिरिक्त दुःख कुछ और नहीं है। हम जो कामना रखते हैं, तदनुकूल कर्म भी यदि करते हैं तो दुःख के बीच में आने को अवकाश नहीं है। पर प्रेरणा कुछ हो और करें कुछ, तो दुमुँही वृत्ति के बीच में दुःख आ ही रहेगा।

यहाँ बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्या इच्छा ख़त्म हो सकती है? अगर वर्तमान में हम समाप्त नहीं हैं, भविष्य से भी हमारा नाता है, तो इच्छा का अभाव असम्भव है। इच्छा होगी और होगी। वह जीवन का लक्षण है। इच्छा नहीं तो जीवन क्या? और अगर इच्छा है तो यह स्पष्ट ही है कि वह कर्म से आगे चलेगी। जो है, उस पर हम समाप्त नहीं हैं। जो होना है, उधर भी हमें चलना है। जो होना है, वह फिर होना चाहिए। यानी वह हमारे द्वारा किया जाना चाहिए। इच्छा का सम्बन्ध भी उस 'चाहिए' से है। जो (होना) चाहिए, फिर उसके (करने के) लिए प्रयत्न भी चाहिए—यहीं से इच्छा के पीछे-पीछे या साथ-ही-साथ कर्म लगा हुआ है। जो है, उसमें अतृप्ति-बोध के कारण ही इच्छा का जन्म है। इसलिए यह भी असम्भव बनता है कि इच्छा तात्कालिक वास्तविकता से आगे न बढ़े। सम्भाव्य के प्रति उसमें स्थायित्व है, अतः वास्तव के प्रति असंतोष। इच्छा आदर्श का खिंचाव है।

इच्छा है, और रहेगी। और इच्छामात्र का जन्म अपूर्णता की अनुभूति में से है, अर्थात् अभाव और अतृप्ति में से है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्योंकि व्यक्ति का व्यक्तित्व बिना इच्छा के सम्भव नहीं है, और इच्छा-मात्र कर्म से आगे है यानी

वह अनिवार्यता से अप्राप्त को चाहती है, इससे प्राप्त में उसे प्रीति रह नहीं सकती। अतः दुःख अवश्यम्भावी ही है।

शायद यह ठीक हो। बहुत गहराई में जाकर देखें तो यह ठीक है ही। जीवन का आधार दुःख है। उसकी सम्भावना भी दुःख ही है। लेकिन इतना मानने के बाद निराशा ही हाथ रह जाती हो, सो नहीं।

इच्छा और कर्म में अन्तर तो अनिवार्य है। अन्तर न हो तो गति ही न हो। फिर कर्म की सम्भावना भी न रहे। अगर आँखें पैर से आगे न देखें तो पैर चलें किधर ? आँखों से जो दूर तक देखा जाता है, और पाँव से जो क़दम-क़दम चला जाता है, उस पर झल्लाने की आवश्यकता नहीं है। वह कोई बुरी बात नहीं। आँखों से आगे तक न देखा जाय तो तेज़ चलने की सुध-बुध भी कभी न प्राप्त हो और रेल, मोटर, वायुयान की सूझ असम्भव हो जाय। इससे मुसीबत यह नहीं है कि इच्छा और कर्म में अन्तर रहता है। मुसीबत तो तब है जब इच्छा और कर्म में विरोध हो जाता है।

जो आदमी देखे सामने और चले पीठ की तरफ़, उसके संकट की कल्पना ही की जा सकती है। सच तो यह है कि चला पीठ की तरफ़ नहीं जाता और देखा भी सामने ही की ओर जाता है। इसके अतिरिक्त आदमी का वश ही नहीं। लेकिन मन की आँख का यह हाल नहीं है। वह आँख एकदम चारों ओर जाती है। भाषा की अपूर्णता का लाभ उठाकर कह सकते हैं कि मन अपने भी खिलाफ जा सकता है और शरीर कुछ-कुछ उसके खिलाफ़ भी जा सकता है। यही संक्लेश का कारण है।

अतएव दुःख से छुटकारे का उपाय इच्छा अथवा कर्म से हठात् निवृत्ति पा लेना नहीं है। इच्छा और कर्म से निवृत्ति मिल नहीं सकती। उसको सम्भव मानना अपूर्णता को शाश्वतिक मानना है। अगर हमें सम्पूर्णता की ओर बढ़ना है, व्यक्ति से विराट् और जीवात्मा से परमात्मा होना है, तो इच्छा की आवश्यकता है और तदनुवर्ती कर्म की भी

आवश्यकता है। इच्छा अतृप्ति-जन्य है, और कर्म इच्छा-जन्य हैं। यह मानकर भी आँख मूँद लेने से एकाएक उनसे छुटकारा भी तो नहीं मिल जाता। उन्हें स्वीकार द्वारा ही जीता जा सकता है। अन्यथा तो दुःख नहीं मिटता, हम ही मिटते हैं और दुःख हम पर हावी हो आता है।

जैसे आँख को बन्द कर लेने और फिर चलने से इन्कार कर देने से कहीं भी पहुँचा नहीं जा सकता, वही फल इच्छा और कर्म को अस्वीकार करने से होनेवाला है। गति इससे खो रहेगी और अगति में ही सिद्धि मानने का भ्रम केवल हाथ रह जायगा। यह मुक्त होना नहीं, यह तो अपने में ही अपने को घेरकर जकड़ रहना है। ऐसे व्यक्ति विराट नहीं बनता, वह जड़ बनता है।

अतः दुःख-नाश के लिए जो करना होगा, वह यह है कि मन इच्छा-शून्य न हो; बल्कि वह आत्मनिष्ठ होकर इच्छावान् हो। और शरीर भी कर्महीन न हो; बल्कि वह मनोनुकूल होकर कर्म-मय हो। शरीर मन के वश में हो, मन आत्मा में दत्तचित्त हो, आत्मा परमात्मा की लगन में लगी हो। इस भाव से शरीर भी उत्तरोत्तर चैतन्य होकर आत्मा-स्वरूप बनता जाता है। जहाँ व्यक्तित्व के तमाम भागों में सहज रूप से अनुकूलता व्याप्त हो जाय, जहाँ किसी का किसी पर दबाव अनुभव न हो और सामन्जस्य-पूर्ण हो, जहाँ सब परस्पर समर्पित हों और परमात्मा से विरह-व्याकुल व्यक्ति का अन्तरात्मा ही समूचे व्यक्तित्व का अधिष्ठाता हो, वहाँ विछोह का दुःख भी लगन का सुख हो जाता है, वहाँ प्रत्येक प्रयत्न आनन्द को पूर्ण करता और उपलब्धि को निकट लाता है। जैसे सच्चे प्रेमी को विरह भी मधुर प्रतीत होता है, वैसे ही इस प्रयोग से दुःख भी सुख जैसा मालूम होता है। जीवन, जो आव-श्यक रूप में दुःख-जन्य है, ऐसे व्यक्ति के लिए प्रसाद-रूप हो आता है। वह इस जीवन के लाभ को परमात्म-लाभ के लिए एक अवसर मानता है। और निरंतर प्रयत्न और साधना से अपने समूचे व्यक्तित्व को लगन की लौ-जैसा उज्ज्वल और ऊर्जस्व बना देता है। जैसे लौ

सदा ऊपर को जलती है और जलना ही उसका इष्ट है, वैसे ही वह व्यक्ति प्रकाश बना ऊपर को जलता ही रहता है। वह दुःख को इस भाँति सर्वार्पण भाव से स्वीकार करता है कि उससे चहुँ ओर सुख विकीर्ण होने लगता है।

व्यक्तित्व में ऐक्य-साधन करना दुःख जीतना है। अनैक्य पैदा करना उस दुःख को बढ़ाना है।

कल्पना को हम बे-लगाम कर देते हैं, तो वह हमें ऐसे स्वर्ग तक ले जाती है जो अतिशय मनोरम है। पर स्वर्ग का रास्ता मोक्ष को नहीं जाता। स्वर्ग में अति ही अति है। वहाँ अभाव को मानो अति से चुप किया जाता है। पर विवेक का अति के साथ निभाव नहीं है। स्वर्ग में विवेक को शांति नहीं। तब कल्पना भी वहाँ अकेली कैसे बस सकती है? कल्पना हमारा अंश जो है, हमसे छूटकर वह दूर-ही-दूर नहीं रह सकती। अतः ऐसी निरंकुश कल्पना स्वर्ग से लौटकर जब धरती पर आती है तो यहाँ की यथार्थता को देखकर उसकी सुध-बुध खो जाती है और वह क्षुब्ध हो रहती है। यथार्थ उसे नरक मालूम होता है। ऐसे वह कल्पना बिचारी स्वर्ग के विरोध में नरक और नरक के विरोध में स्वर्ग रचकर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ टकराती रहती है। स्वर्ग से टूटकर नरक में गिरती है। नरक में आँख मूँदकर स्वर्ग रचती है। ऐसी अवश कल्पना और उस कल्पना के पीछे चलनेवाली चाह दुःख को मिटा नहीं सकती। कुछ पल उसे भुला दे सके तो सके भी, पर अन्त में तो वह दुःख को बढ़ाती ही है!

बुद्धि को जब वैसी कल्पना की बहक में बहकने दिया जाता है तो परिणाम अनिष्ट होता है। बुद्धि में मालूम तो होता है जैसे वेग आ गया है; पर बुद्धि ऐसे कर्महीन ही बनती है। इस प्रकार गर्माई हुई बुद्धि दिमाग को बहकाती है और त्रास पैदा करती है। इस बुद्धि के बुद्धिवादी लोग आदर्श की रचना रचते और एकदम प्रतिकूल व्यवहार कर सकते हैं। उनके काल्पनिक और उनके यथार्थ में विरोध हो आता

है। वे मन से स्वर्ग और शरीर से नरक रचते हैं। और नरक जितना घोर होता है, स्वर्ग को उतनी ही अतिशयता से दिव्य होना पड़ता है। यह ढंग दुःख बढ़ाने का है। बुद्धिवाद, कल्पनावाद, हृदयवाद यह सब जिस अंश में व्यक्तित्व में ऐक्य नहीं लाते, उसमें अनैक्य बढ़ाते हैं, उतने ही अंश में वे दुःख बढ़ाते हैं। वे कर्म में और कल्पना में इतनी खाई डाल देते हैं कि एक का निषेध दूसरे की सम्भावना बनती है। कल्पना का विलास व्यक्ति को कर्म से दूर डाल देता है; अथवा कि कर्म का उत्ताप उसको कल्पना-हीन बना देता है। पर न कल्पना से आदमी की छुट्टी है, न कर्म से उसका छुटकारा है। इससे होता केवल यह है कि दोनों परस्पर विमुख होकर बन्धन और दुःख उपजाते हैं। मनुष्य न निरा मन है, न कोरा शरीर और जहाँ दोनों में परस्पर की उपेक्षा है, वहाँ असल में दोनों ही क्षीण होते हैं और आपस में दुःख ही बढ़ाते हैं, उसे मिटा नहीं सकते।

कल्पना भाव-राज्य की नायिका है। कर्म से व्यवहार बनता है। कल्पना-प्रधान साहित्य होता है। कर्म-प्रधान है राज-कारण। एक-दूसरे से विमुख होकर दोनों बन्धन-कारक होंगे। उनकी परस्पर सम्मुखता और एकता से ही दुःख कट सकता है। और उन दोनों की एकता होगी आत्मधर्म के नीचे। साहित्य निरंकुश नहीं हो सकता। और राजकारण अंकुशधारी हो इसमें और भी अनर्थ है। जैसे कर्म भावना के पीछे चलता है, वैसे राजकारण स्वभाव से ही साहित्यानुवर्त्ती होगा। साहित्य आज जो पहचानता है, राजकारण कल उसी को अपने हिसाब में उतारेगा। राजकारण की सत्ता तो और भी स्वच्छन्द नहीं है। पर दोनों ही वे आत्मवश चाहिएँ। आत्म-धर्म से स्वाधीन होकर जैसे कोई इच्छा हेय है और कर्म अनिष्ट है, वैसे ही मानव-धर्म के विरुद्ध होकर साहित्य और राजकारण अनिष्ट हैं। व्यक्ति का धर्म है अपने व्यक्तित्व में ऐक्य सम्पादन। मानव-जाति का धर्म है, मानव-जाति का ऐक्य-साधन। ऐक्य का नाम है सत्य। जो एक वही सत्। उस एकता की अनुभूति के

द्वारा प्रेरित कर्म की प्रकृति होगी अहिंसा। सत्य की अवस्था और अहिंसा के आचरण से ही दुःख कट सकता है। अन्यथा वह नहीं टल सकता; हाँ, बढ़ तो सकता ही है।

किस ओर ?

जीवन की शर्त गति है। जीवित प्राणी चले बिना रह नहीं सकता। हम सजीव हैं ? तो हम चलेंगे।

पर हम अनन्त के बीच एक बिन्दु के तुल्य हैं। हमारे सब ओर आकाश है, यानी अवकाश है। सभी ओर दिशाएँ खुली हैं। दिगन्त कहीं नहीं है। हमारी धारणा से बाहर यथार्थ में वह नहीं ही है।

ऐसी अपार अनन्तता के बीच होकर बिन्दु किधर चले ? गति सब ओर सम्भव है। लेकिन प्रश्न है कि और सबको छोड़कर वह विशिष्ट गति कौन-सी है जो, हम चेतन और विवेकशील प्राणियों के लिये, प्रगति कहलायगी।

इसी प्रश्न को कुछ समझ कर देखना है।

हमारे ऐहिक अस्तित्व की स्थिति यह है कि जिस धरती पर हम रहते हैं वह गोल है। गोलाकार में उसकी गति है। वह अपनी धुरी पर चहुँ ओर घूमती है और सूरज के चारों ओर भी घूमती है।

उस धरती पर रहते हुए हमने दिशाओं की कल्पना की है।

स्पष्ट है कि ये दिशाएँ हमारी हैं और सापेक्ष हैं। उस धरती पर का एक देश हमारे लिए पश्चिम में है तो वही पूर्व में भी है। जिस बिन्दु पर भी हम हों, वहाँ से चल पड़ें और चलते-चले जायँ, फिर चाहे हमारी चलने की दिशा कोई हो, हम एक ही जगह पहुँचेंगे।

जब स्थिति यह है तो पश्चिम की ओर चलने और पूर्व की ओर चलने में एक को सही और दूसरे को ग़लत नहीं कहा जा सकता। लौकिक परिणाम की दृष्टि से पूर्व या पश्चिम की गति, दोनों, अन्तिम रूप में, एक-सा ही फल लाने वाली हैं।

इस तरह गति के लिए दिशाएँ विविध हैं, और उनमें कोई सही या ग़लत नहीं है। सब ओर गति होगी और होती रहनी चाहिए।

इसका परिणाम यह निकला कि जिधर मैं चलता हूँ, और जैसा मैं करता हूँ, उससे प्रतिकूल चलने और विपरीत वर्तन करने वाले को मैं किसी तरह अपने से कम सही नहीं कह सकता और न मैं उसके अनु-करण में अपने चलन को बदल सकता हूँ।

विविध, यहाँ तक कि विरोधी दिशाओं में गति होते रहने से जीवन का चित्र खिलता है। रेखाएँ आपस में मिलें-बटें नहीं, और वे एक-दूसरे के समानान्तर ही चलने को बाध्य हों, तो उनसे कोई आकृति नहीं बन सकती। विरोधी दिशाओं में चलना स्वीकार करके ही रेखाएँ क्षेत्र घेर सकतीं और आकृति-सौन्दर्य उपस्थित कर सकती हैं।

परिणामः जीवन-समृद्धि और सौन्दर्य के लिए गति की विविधता और स्वतन्त्रता आवश्यक है।
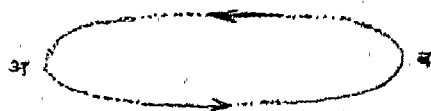
लेकिन रेखाओं की काट-फाँस ही ड्राइंग नहीं है। उनमें दिशा-विरोध होने पर भी एक भाव-संगति आवश्यक है। तभी आकृति सफल और सुन्दर हो सकती है। वहाँ जैसे विरोध स्वयं किसी अन्तर्गत ऐक्य के कारण सम्भव बनता हो। रेखाएँ तो एक-दूसरे से उलटी जा सकती हैं; लेकिन सब मिलाकर उन्हें एक भाव को मूर्त करना चाहिए। उस

भाव के ऐक्य की अपेक्षा वे सब एक हों। वे ही कला रेखाएँ हैं।

अर्थात् जीवन-गतियों में वैविध्य और विरोध हो सकता है, लेकिन उन सब में व्याप्त एक ऐक्यभाव अनिवार्य है। मतवाद बहुतेरे हों, आस्था-विश्वास, जाति-सम्प्रदाय, विचार-आचार, गच्छ-आम्नाय, जितने चाहे हों; लेकिन उन सबके बीच ऐक्य का, यानी अहिंसा का, भाव जरूर चाहिए। वह भाव है तो उनका भेद ही सत्य है। वह नहीं तो उसमें जीवन का सत्य-सौन्दर्य भी नहीं। सौन्दर्य विरोध में सम्भव होता है; लेकिन विरोध ऐक्य-निष्ठ होना चाहिए।

जो जितने विरोधों को अपने जीवन में एक बनाता है, वह उतना ही विराट है। जीवन की सुषमा को, उसकी कला को, उसके विज्ञान को, वह उतना ही प्रत्यक्ष करता है।

अपनी गति और दिशा को अर्थात् अपने व्यवहार और विचार को, इतना सच मानना कि शेष सबको झूठ ही मानना पड़े और उनके प्रति असहिष्णुता मन में प्रकट हो जाय, यह भ्रान्ति का लक्षण है। प्रगति के विरोध में यह मनोवृत्ति अगति की अर्थात् जीवन के विरोध में मौत की परिचायक है। जहाँ अप्रेम और हिंसा है वहाँ प्रगति तो है ही नहीं, वहाँ गति से ही उकताहट है; क्योंकि जो गतिशील है, वह अपनी गति में इतना दत्तचित्त है कि दूसरी दिशाओं में चलने वाले के प्रति उसके मन में हर्षाभिवादन ही हो सकता है। उनसे उलझने का अवकाश उसी को होगा, जो गति से अर्थात् जीवन से, मानो थक चला है और अब जिसे मौत चाहिए।

इस भाँति प्राणवान् पुरुष का सीधा लक्षण है अद्वेष अर्थात् अहिंसा। प्राणों में कुछ ह्रास अनुभव होता है तभी द्वेष और हिंसा की वासना सम्भव हो सकती है।

वह धार्मिक नहीं जो दूसरों के धर्म के प्रति प्रेम नहीं रख सकता। वह श्रद्धावान् नहीं जो दूसरे की श्रद्धा को तोड़ना चाहता है। इसी से श्रद्धालु विनयी होगा और अहंकारी के पास किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं

फटक सकेगी।

लेकिन हम इस प्रसंग में दूर न जायँ। हमें प्रगति की दिशा की मूल पहचान पानी है।

ऊपर विरोधी गति की बात कही गई है। मान लीजिए अ और ब दो मित्र हैं। उनकी मित्रता का मतलब है कि अ की स्नेह भावना ब की ओर और ब की अ की ओर सतत प्रवाहमान है। चित्र से स्पष्ट है कि दोनों स्नेह-धाराओं की गति विमुख दिशाओं में है, पर सिरों पर दोनों के ऐक्य को धारण करने वाले दो व्यक्तित्व हैं। ऐसा है तभी अ और ब दोनों दो रह कर भी अपने बीच ऐक्य का प्रवाह अनुभव करते हैं। दोनों का पार्थक्य दोनों के स्नेह को गाढ़ा ही करता है।

पदार्थ-विज्ञान में विद्युत की गति समझने से यह बात और साफ हो जाती है। धन और ऋण ये दो प्रकार की विद्युत्-धाराएँ दो सिरों पर संयुक्त होती हैं, तभी विद्युत्-प्रवाह अनुभव होता है। धन और ऋण के परस्पर-विरोधी, फिर भी परस्पर सम्मुख और एक धारागत होने से जो चैतन्य प्रवाह स्फुट होता है, वही है शक्ति का सत्य और प्रकाश का सत्य।

मानव-सम्बन्धों में इसी को कहना चाहिए प्रेम, ऐक्य, अहिंसा।

इसी को और दूसरी तरह समझें। दिल्ली और कलकत्ता दो नगर हैं। एक-दूसरे से सैकड़ों कोस दूर हैं। कलकत्ता दिल्ली से पूर्व में है। दिल्ली उसके पश्चिम में है। दोनों के दो अलग बनाव, अलग बोली, अलग ढंग, लेकिन व्यापार का, सभ्यता का, राष्ट्र का, अर्थात् मानवैक्य का अभ्युदय इसमें है कि दिल्ली के वासी पूर्व की ओर चल कर कलकत्ते के लोग उससे विपरीत, यानी पश्चिम दिशा में बढ़ना स्वीकार करके दिल्ली से हेलमेल उपजावें। उन दोनों में अधिकाधिक यातायात हो, आदान-प्रदान हो। दोनों की खुशहाली इसमें है कि दोनों सैकड़ों कोस दूर रहकर भी आपस में मिले रहें। मिले रह सकते हैं वे विरोधी गतियों से। मान लो कि दिल्ली के लोग पूर्व को चलते हैं तो कलकत्ते के भी

पूर्व को ही जाते हैं, और सभी पश्चिम की ओर जाने से विमुख हैं, तो कल्पना की जा सकती है कि क्या परिणाम होगा। प्रकट है कि इस प्रकार जीवन असम्भव हो जायगा। हर एक आदमी अपने में तब अकेला पड़ जायगा और जो जगत् नाना रंग-रूपों के पुष्पों से वाटिका के समान खिला-भरा लहलहाने के लिए है, वह जंगली वन की भाँति अशोभन बन जायगा।

गति की विभिन्नता शोभा का कारण है। कोई यह कहेगा, कोई वह। एक मध्यम सुर पर जिएगा तो दूसरे का जीवन तीव्र सुर पर कसा हो सकता है। नाना व्यक्तियों की भूमिका नाना होगी। सब अपनी-अपनी मतियों के अनुकूल चलेंगे। वही जीवन-संघर्ष की अनुपम लीला होगी। एक की सम्भावनाएँ दूसरे से जुदा हैं और प्रत्येक का जीवन अपने निजी अनुभव में एकदम अद्वितीय है।

किन्तु स्पष्ट है कि विभिन्नता तभी इष्ट है जब अन्तर्गत किसी ऐक्य की चेतना व्याप्त हो। यानी जब उसे प्रेम की वेदना थामे हुए हो। द्वेष-विद्वेष, ईर्ष्या-मत्सर, आतंक-आरोप जीवन के क्षय के कारण होते हैं। वे स्वास्थ्य के ह्रास से सम्भव बनते हैं और गति को क्षीण करते हैं। वे वार्धक्य के लक्षण हैं। जिसका केन्द्र और गति स्फूर्ति स्वस्थ है वह औरों के प्रति प्रीति-भाव ही रख सकता है। विकारी भाव गति-केन्द्र को अपने भीतर अनुभव करने की अक्षमता से पैदा होते हैं। इससे साफ है कि बाहरी दिखने वाली गति चाहे जिस दिशा में भी हो, उसका निर्णय तो बाहरी परिस्थितियों की अपेक्षा में ही होगा। व्यक्ति की साधना यह होनी चाहिए कि वह अपने भीतर ही रहने वाले गति-केन्द्र के साथ अधिकाधिक तन्मय हो, यानी व्यक्ति किधर चले इसका उत्तर होगा, अपनी ओर। अर्थात् उसका धर्म है कि वह अपने ही केन्द्र में पहुँचे, अपने साथ ही तादात्म्य पाये।

इस साधना के बिना बाहरी तमाम गति व्यर्थ से भिन्न नहीं है। जैसे कि निरुद्देश्य रेखाएँ एक चित्र के सौन्दर्य को नष्ट करती हैं और

उस चित्र के जीवन को प्रस्फुटित करने के बजाय म्लान करती हैं, वैसे ही आत्म-केन्द्र से टूटी हुई गति जगज्जीवन को असुन्दर और व्यक्ति-जीवन को श्रान्त बनाती है। वह गति ही नहीं है, भटकन है। एवं वैसा सौन्दर्य केवल ध्वनि है, साहित्य नहीं है।

अर्थात् व्यक्ति को यदि किसी ओर कुछ करना है, तो वह दिशा अन्तर्मुखी है, उसका कर्त्तव्य-कर्म यही है कि वह अपने जीवन-मूल के साथ उत्तरोत्तर अभिन्न होता जावे, वह अपनी आत्मा को पावे। बस, आत्मरूप होकर वह रहे।

जो पिण्ड की आत्मा वह ब्रह्माण्ड की भी आत्मा है। अपने को पाना ब्रह्माण्ड को पा लेना है, क्योंकि परमात्मा एक है।

इस अध्यात्म के सत्य को हम लोक-सत्य ही समझें। उसे समझने के लिए तरह-तरह के उदाहरणों की सहायता ली जा सकती है; पर समझने को वही है।
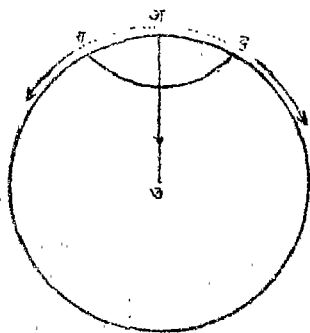
चित्र २ में उ बिन्दु पृथ्वी का केन्द्र है। समूची पृथ्वी यदि टिकी हुई है और अखण्ड है, तो मध्याकर्षण की शक्ति द्वारा, उसी पर, उसी में। यह तो है ही कि पृथ्वी पर फिर सूर्य और अन्य ग्रहों का प्रभाव भी है, लेकिन पृथ्वी पर खड़े व्यक्ति के लिए पृथ्वी के मध्य केन्द्र उ

का आकर्षण ज्ञान उनके धर्म-विचार के लिए पर्याप्त है। केन्द्र और परिधि दो नहीं हैं। आत्यन्त अभिन्नता के साथ वे एक हैं। समझने के लिए ज्यामिति की धारणा हमने की है और दो शब्द बनाकर उन्हें दो समझा है। एक ही बीज से उत्पन्न होने के कारण उनमें द्विधा कल्पित भर है।
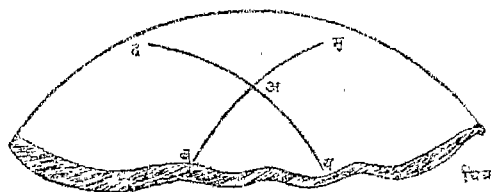
अब पृथ्वी के धरातल (चित्र २) पर खड़ा अ व्यक्ति ब, स, द, य में से किसी ओर आ सकता है, लेकिन पृथ्वी के तल पर व्यक्ति की स्थिति यदि सम्भव है तो तभी जब पृथ्वी का माध्याकर्षण उसे थाम रहा है। अ बिन्दु जिधर भी जाय, उसकी गति उस शक्ति से प्रभावित है जो (चित्र २ में) धरातल पर व्यक्त नहीं है, पर जिसका (चित्र ३ में) अ-उ रेखा से संकेत किया जा सकता है।

अ पृथ्वी के धरातल पर जिधर भी चले उसकी स्थिति बिन्दु की ही रहेगी। धरातल पर होकर वह स्थानान्तरित होता है, चलता नहीं। धरातल पर रहकर वह खिंचता है, बढ़ता नहीं। अर्थात् वह गति करता नहीं है, गति उस पर होती है। वह गति-मान नहीं, गति-गत है, केवल Anto Maton है।

किन्तु यदि वही अ साधना-पूर्वक अपने केन्द्र की ओर यानी अ-उ की दिशा में किंचिन्मात्र भी गति करता है तो वह प्रगति है। क्योंकि इस गति में अ मात्र स्थानान्तरित ही नहीं होता है, बल्कि अपनी बिन्दुता से आगे बढ़कर वह अपनी सत्ता और शक्ति को कुछ अधिक

व्यापक बनाता है। यानी ऐसे वह बढ़ता भी है।

सच तो यह है कि केन्द्र के प्रभाव से धरातल कभी भी मुक्त नहीं है। लेकिन धरातल जितना अधिक केन्द्र के साथ अपने ऐक्य को अनुभव करता है, उतना ही वह चैतन्य-स्वरूप बनता है। कुल का भाग बन कर वह कुल की प्रकृति का समभागी बनता है। धरातल पर का बिन्दु बिन्दु ही है, सिर्फ अणु है। पर यदि उसको केन्द्र-चेतना प्राप्त है तो वह अणु न रहकर अखिल हो जाता है। बिन्दु निखिल बनता है। चित्र ३ में कल्पना कीजिए कि अ व्यक्ति आत्म-केन्द्र उ की दिशा में ब बिन्दु तक साधनापूर्वक अपनी चेतना को ले जा सका है। तब कहा जा सकेगा कि अ का व्यक्तित्व बिन्दु-मात्र नहीं रह गया है, बल्कि अब वह अ स ब द क्षेत्र जितना व्याप्त हो गया है। अ इसी भाँति विराट् बनता जा सकता है। वही उसके व्यक्तित्व का बढ़ाना अथवा प्रगति करना कहलाएगा।

ज्यामिति के स्थूल उदाहरण से यदि हम सूक्ष्म चैतन्य-क्षेत्र के आकलन तक पहुँच सकें तो ज्ञात होगा कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा की दिशा में जितना बढ़ सका है, बाहर जगत् की ओर भी उसकी सहानुभूति उतनी व्यापक हो गई है। अपने अन्तर में प्राप्त हुई ऐक्य-शक्ति के द्वारा उसका व्यक्तित्व बाहर की ओर भी विशद और विस्तृत हुआ है। व्यक्ति संस्था हो गया है।

इसी भाँति बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति समष्टि रूप हो सकता है। जिसमें आत्मबोध यानी विश्वबोध अत्यन्त जाग्रत है, ऐसा व्यक्ति, व्यक्ति होकर भी इतना विराट् होता है कि असंख्य जन उसमें अपनी कल्पना की मुक्ति पाते हैं और उसके ध्यान में अपने को विसर्जित कर देते हैं। उसकी वाणी आगम बनाती है और उसका कर्म इतिहास का निर्माण करता है। उसका बल काल के साथ क्षीण नहीं होता, बल्कि गुणानुगुणित होता है। व्यक्तित्व उसका राष्ट्रों और जातियों की श्रद्धा-भक्ति के समर्पण द्वारा उत्तरोत्तर प्रेरक बनता जाता है। उसकी देह-गत इकाई

कर्मों की मिट चुकी हो, फिर भी वह कोटि-कोटि मानवों का मुक्ति-मन्त्र बनकर अक्षय रूप में विराजित रहता है।

असंख्य मानव हैं और उनमें असंख्य सम्भावनाएँ हैं। उनमें से एक की भी सम्भावनाओं को कम करने की इच्छा करने की आवश्यकता नहीं है। जरूरी है कि सब अपने भीतर के निहित उद्देश्य की पूर्ति करें और उसके लिए अपनी ही राह चलें। वह राह उनकी अपनी होगी। इससे किसी और की नहीं होगी। वह आवश्यक रूप में अद्वितीय होगी। फिर भी राह तो एक ही है, क्योंकि परमात्मा एक है। चेतना एक है, और सबके अन्तःकरण में ऐक्य है, अतः सब के स्वत्व को अक्षुरण रखकर भी जो उनके ऐक्य में प्रस्फुटन लाती है, वही प्रगति की राह हो सकती है। वह राह व्यक्ति में अपनी ही ओर जाती है और प्रेरणा वहीं अन्दर से लेती है। व्यक्ति फिर उस अन्तःप्रेरणा को ही प्रकाश्य गति रूप में बाहर की ओर दे देता है। यही जीवन की प्रक्रिया है।

इस आत्माभिमुखता से विलग होकर जो भी गति है, वह भटकन है। आत्मा को खोकर समूची धरती का राज्य पा लेना धूल पाना जितना भी तो नहीं है, क्योंकि वह माया है। यश, कीर्ति, धन-सम्पदा, शक्ति शासन आदि को सामने रखकर जो गति की जाती है, वह प्रगति नहीं होती; क्योंकि उससे व्यक्ति नहीं बढ़ता, बन्धन बढ़ता है! ऐक्य नहीं बढ़ता, डाह बढ़ती है। व्यक्ति की प्रगति है हृदय के व्यापक होते जाने में। हवाई जहाज पर दो सौ मील की रफ्तार की गति जैसे मानव-प्रगति के लिए असंगत है वैसे और लौकिक गतियाँ भी असंगत हैं; अतः प्रगति का लक्षण है व्यक्ति की सहानुभूति की व्याप्ति। सहानुभूति का जितना विस्तार होगा अहंकार उतना ही पतला होगा। इसलिए जहाँ जितना अहंकार गाढ़ा है और आग्रह तीव्र है वहाँ प्रगति उतनी ही कम है।

इस तरह अपूर्ण प्राणी के लिए प्रगति की आवश्यक शर्त हो जाती है, व्यक्ति की आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन की प्रार्थनामुखी वृत्ति।

दूसरे के दुःख जो देखता है, वह ठहरा हुआ है; क्योंकि दूसरे की गति की ठोकर ही उसे लगती है। चलने वाला अपने दुःख पर आँख रखेगा। औरों का दोष वह अपने में देखेगा। दूसरे को बुरा-भला न कह कर वह अपने को कसेगा। यह नहीं कि द्वि-पक्षी मानव-भाषा का प्रयोग वह नहीं करेगा। भाषा में विशेषणों का द्वित्व और युग्म तो अनिवार्य ही है। सत्-असत्, हेय-विधेय, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा आदि तुलना के शब्द उसकी भाषा में भी आयेंगे ही। पर ऐसे शब्दों को झेलने वाली उसके अन्दर की अपनी वेदना होगी। सख्त शब्दों से यदि वह बचेगा नहीं तो इसीलिए कि सबसे अधिक उसकी चोट को लेने वाला वह स्वयं ही होगा। उसकी भाषा में रोक कहीं न होगी।

इस भाँति सच्ची प्रगति की राह पर चलने वाला व्यक्ति समाज का प्रेमी होगा। क्योंकि समाज के हाथों दण्ड पाने के लिए वह सदा उद्यत होगा। वह समाज-विद्रोही या समाज-शास्त्री या समाज-शासक नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह समाज को अपने से अलग न मान सकेगा। वह समाज की व्यवस्था का आदर करेगा और उसके विकार का अपने ऊपर कष्ट स्वीकार करके परिहार करेगा। वह समाज का सेवक होकर शास्ता होगा और सविनय होकर सुधारक होगा। उसकी आलोचना प्रेम की व्यथा में से सम्भव बनेगी और उसकी सहानुभूति शासक से अधिक शासित के साथ होगी। जज से ज्यादा अभियुक्त के लिए उसमें दर्द होगा, पर क्षमाशील होकर अपराधी के प्रति वह न्यायी भी हो सकेगा।

हम किस ओर बढ़ें? जवाब है : प्रेम की ओर। प्रेम का मतलब आत्मार्पण। अपने से अधिक हमें ध्यान हो दूसरे का, उसकी इज्ज़त का और उसके अधिकार का। हमारा स्वत्व इतना कम होता जाय कि हमारे पास स्वधर्म से अतिरिक्त और कुछ अपना बचे ही नहीं। जो हो हमारे लिए कर्त्तव्य हो। कर्त्तव्य-पालन का फल अधिकार के रूप में हमारे पास आवे भी तो वह उस कर्त्तव्य को और विस्तृत और गम्भीर

ही बना दे। अधिकार में हम भोग न देखें। जीवन ही हमारे लिए स्वार्थ-भोग की जगह स्वार्पण का धर्म हो जाये। इस सबका मतलब है कि हम अन्तरात्ममुखी हों और बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् की अपेक्षा में देखें। उसी अपेक्षा में उसको संस्कार दें। यानी स्वयं संस्कारी और स्वच्छ बनकर जगत् को संस्कारशील और स्वच्छ बनायें।

यह तो प्रगति। इससे जो विमुख वह भ्रान्ति। इस मूल तत्त्व से यानी ईश्वराभिमुखता से विरुद्ध होकर जो भी है, वह अनिष्ट है। वैसा ज्ञान बोझ है, कर्म बन्धन है और कला विलास है।

हम किधर चलें ?—मुक्ति की ओर।

मुक्ति कहाँ है ?—ईश्वर में।

ईश्वर क्या है ?—ऐक्य।

इससे विचार में और कर्म में, व्यवहार में और अध्यात्म में, बढ़ें हम तो ऐक्य की दिशा में। वह दिशा सबके लिए भिन्न है, फिर भी सबके लिए एक है। वह अद्वितीय है। वह सबको इसी क्षण सुलभ है। उसके लिए प्रतीक्षा की या शोध की आवश्यकता नहीं है। न कहीं भागने की ज़रूरत है। उसकी सूचना तो हमारे भीतर हर समय ही ध्वनित हो रही है। उसको सुनते भर रहना है।

अच्छाई-बुराई

(१)

सवाल है कि अच्छाई-बुराई क्या ?

एक पड़ोसी बुज़ुर्ग की उदारता से प्रभावित हूँ। आसपास कोई बीमार हो कि वह देखने पहुँचेंगे, सलाह देंगे, दवा करेंगे। सभा-संस्थाओं को दान देते हैं। कई छात्र उनकी ओर से वृत्तियाँ पा रहे हैं। जाड़ों में रज़ाइयाँ बटती हैं। अनेक समितियों के वह सदस्य हैं। धन है, पर व्यसन कोई नहीं है। पढ़े नहीं तो गुने बहुत हैं। पैठ उनकी गहरी है। बुद्धि चौकन्नी। कान और आँख खोलकर रहते हैं। ऊपर धन का दिखावा नहीं दीखता है।

सब है, पर अरे यह क्या ? लाला के मुँह से तो फूहड़ गालियाँ निकल रही हैं ! आगे की सुध नहीं, ऐसे गुस्से में हैं। एं, क्या हुआ ? —ओंह, वह तो उनका नौकर है। नौकर ने गुस्ताख़ी की होगी। ताबेदार लाला के आगे मुँह खोले ? यह हो और लाला उसको सह जायँ ? जी नहीं, ऐसे लाल का घर उनका राख न हो जायगा ! इससे अपने लखपतीपन को लेकर वह काफ़ी सगर्व और सावधान हैं।

ऐसे ही एक रोज़ जगराम आया। लाला की घुड़साल पर वह सईस था। आदमी मेहनती और मज़बूत था। पर आया तो गिड़गिड़ाता हुआ। मैंने कहा—जगराम, क्यों क्या बात है ?

बोला—बाबू, लाला से हमारी तनख़ा दिवा दो।

मैंने पूछा—क्या हुआ ?

बोला—निकाल दिया।

बात यह हुई कि लाला ने सवेरे आकर कहा कि 'घोड़ी आज घुमा-कर क्यों नहीं लाया ?' जगराम ने कहा कि 'घुमा लाया हूँ, जी।' लाला ने कहा, 'चुप सूअर, जवाब देता है। हम कहते हैं, नहीं घुमाके लाया, फिर भी बके जाता है।' जगराम ने कहा कि 'हुजूर, घुमा लाया हूँ।' इस पर लाला ने गुस्से में जो कहा वह दुहराया नहीं जा सकता और जगराम को उसी वक्त बरख़ास्त कर दिया।

जगराम का ख़याल था कि लाला दिल के दयालु हैं! तनखा देंगे ज़रूर, बल्कि चाहे वाजिब से भी ऊपर दें। पर उसे नीचा दिखाना चाहते हैं। लेकिन ठाकुर का बेटा बहन-बेटी की गाली नहीं सुन सकता। जाकर अभी उनके हाथ जोड़ूँ तो फौरन सब पैसे दे देंगे, यह पक्की बात है। पर वह तो मुझसे होने वाला नहीं। लेकिन, आप जानते हैं, बाबूजी, गरीब आदमी हूँ, सो कहके तनख़ा दिवा दो तो बड़ा जस हो।

जगराम की बात सच है। लाला दयालु हैं, दीनों के प्रतिपालक हैं, और दान-इनाम बहुत देते रहते हैं। पर अपने सम्मान का भाव उनमें इतना चहका हुआ रहता है कि वही अभिमान हो जाता है। दान और दया से उनके सम्मान को सुख मिलता है। उनके अभिमान को ऐसे सेंक पहुँचती है। उसी फोड़े पर उँगली पड़े तो यह उनको सहन नहीं हो सकता। उस अभिमान के किनारे के उस पार लाला बड़े भले हैं, उस किनारे से इधर उनकी कमज़ोरी नज़र आ जाती है।

उनसे दान पाने वाले से पूछो तो लाला बड़े भले हैं। गाली खाने वाले से पूछो तो तस्वीर इतनी उजली नहीं है।

अब लाला भले हैं कि बुरे, इसका क्या जवाब है ? जवाब है कि दोनों हैं। सच पूछिए तो न वह एक हैं, न दूसरे हैं। वे विशेषण तो

खाते हैं, और लाला अर्चित हैं। अर्थात् वह स्वयं हैं। अपने में डुबकी अपनी आदतों से और न जाने किस-किससे लाचार वह बिचारे एक आदमी हैं। भिखारी देखते हैं तो दान उन्हें वैसे ही देना पड़ता है जैसे गुस्ताखी देखते हैं तो गुस्सा होना पड़ता है!

(२)

एक खूनी चोर पकड़ा गया। राम-राम, कैसा खूँख्वार! अजी तीन खून उसके माथे हैं। और चोरियाँ तो कितनी! मुश्किल से हाथ लगा। पुलिस अपने को शाबाश मानती है।

पर घर पर उसकी माँ छाती पीट रही है। वह माँ बेटे को जानती है, चोर को नहीं जानती। माँ बीमार थी और खाने को और दवाई को कुछ न जुटता था। तब उसके बेटे ने पहली चोरी की। माँ सुनकर काँप गई। पर उस बात पर बेटे के प्रति कृतज्ञता के आँसू भी उसमें आये। अपनी चोरी के कारण माँ के निकट वह कुछ और भी अधिक बेटा हो गया। माँ के लिए तो उसकी चोरी एक तरह से उसका स्वार्थ-त्याग ही था।

वही चोर आगे डाकू बन गया। सुनते हैं धन लाता और गरीबों में दाएँ-बाएँ बाँट देता था। और वे दीन लोग आँखों में आँसू लाकर अब उसे याद करते हैं।

नाम समझिए उसका तुल्ला है। यानी तुलाराम। अब सवाल है कि वह तुलाराम क्या है? जेल में वह डाकू है, फाँसी पर हत्यारा होगा। पर माँ के जी में और कुछ लोगों की आँसू-भरी आँखों की दृष्टि में वह क्या है? वहाँ बुरा नहीं, शायद भला है और प्रेम का पात्र है।

अब पूछें कि तुल्ला क्या है? अच्छा है कि बुरा है? तो मालूम होगा कि वह दोनों है और एक भी नहीं है। सच पूछिए तो वह स्वयं है। कुछ अनिवार्य कारणों का अनिवार्य फल। आँसुओं में से भला दीखता है, कानून में से बुरा दीखता है।

(२)

ऊपर दो उदाहरण दिये। पर हम सब, या हर कोई, उदाहरण है। सबका वही हाल है। सब अच्छे हैं, सब बुरे हैं। उस ओर से वह, इस ओर से यह। असल में सब अनिवार्य हैं। अच्छाई-बुराई को अपने द्वारा प्रगटाने वाले होकर भी खुद अच्छे-बुरे नहीं हैं।

इस तरह सब समान हैं। पक्षपात का दोष ईश्वर को भला कैसे दिया जा सकता है! सर्वव्यापी होकर पक्षपाती होना ईश्वर के वश का ही काम नहीं। अतः वैज्ञानिक और धार्मिक-बुद्धि समदर्शी है। सबके भीतर की राशि के ऋण-धन जोड़ें और ईक्वेशन फैलाएँ तो फल वही हाथ लगेगा : शून्य।

जगराम और सेठ, लुल्ला और जज, सभी आदमी हैं। सब की कीमत और जगह इस दुनियाँ में अलग है। एक घट है, दूसरा बढ़ है। सेठ जगराम को गाली दे सकते हैं और तनखा रोक सकते हैं, जगराम गाली खा सकता है और तनखा के लिए गिड़गिड़ा सकता है। उसी तरह लुल्ला कानून के फंदे से फाँसी पा सकता है, क्योंकि जज, किताब देखकर उस कानून के फन्दे की फाँसी उसे दे सकते हैं। समभावी सृष्टा की इस सृष्टि में इसी विषम भाव से काम चला करता है। सबके अलग काम हैं और अलग दाम। यहाँ तक कि उनमें आकाश-पाताल का फर्क और भक्ष्य-भक्षक का सम्बन्ध दीखता है। हाँ, वह अन्तर और विरोध-सम्बन्ध है भी। फिर भी सब आदमी हैं। यानी सबके भीतर एक सामान्य सत्य है। सब प्रेम से खिलते और अपमान से झुलसते हैं। सबमें 'आहार निद्रा, भय मैथुनं च सामान्यमेतत्' है।

इससे मुझे हक नहीं कि एक को अच्छा और एक को बुरा कहकर मैं छुट्टी पाऊँ। सत्य पर मैं आँख नहीं मींच सकता। लुल्ला फाँसी पा रहा हो, तब जज ब्रिज खेल सकता है। इस फर्क पर आँख मैं नहीं मींचता। आँख मींचना उससे घबराना होगा। लेकिन मुझे इच्छा नहीं कि जज के ब्रिज खेलने और डाकू के फाँसी झूलने में, मैं विघ्न बनूँ।

अर्थात् वह अन्तर मैं खुली आँख से देखता और खुले मन से मानता हूँ। फिर भी उन्हीं आँखों से यह भी देखता और उसी मन से यह भी मानता हूँ कि जज जैसे अच्छा वैसे बुरा भी है; और डाकू भी जैसे बुरा, वैसे अच्छा भी है।

अर्थात् इस दुनिया के आदमी में जो अन्तर हमें नज़र आता है, उन आदमियों में से किसी को अच्छा और दूसरे को बुरा कहकर हम उस अन्तर को नहीं समझ सकते। यह तो राग-द्वेषमयी वृत्ति होगी। उसकी जड़ में हमारी रुचि-अरुचि काम कर रही हो सकती है। हम उस बारे में व्यक्तिगत रूप से सावधान हों तो भी वर्ग-हित और वर्ग-चेतना से आबद्ध हो सकते हैं। यानी हमारा विवेक शुद्ध-विवेक नहीं, वर्ग-विवेक हो सकता है।

क्या आप समझते हैं कि मोटी तनखा और मोटी किताब और बारीक बुद्धि लेकर सदण्ड-विवेक के प्रतिनिधि जो जज-मजिस्ट्रेट समाज के हृदय के बीच से अधिक समाज के सिर पर बैठे हुए हैं, वे अन्ततः विवेक के प्रतिनिधि हैं? नहीं; तात्कालिक शासन की न्याय-पुस्तक (दण्ड-पुस्तक) के संरक्षक और पहरेदार भर वे हैं। वे अपनी बात नहीं कहते, या अपनी कहते समय भी अपने वर्ग की बात कहते हैं।

इसलिए वे सब आईन-कानून, जिनके साथ विषम-बुद्धि और दण्ड-भावना मिली हुई है, कतिपय की स्वार्थ-रक्षा के काम के हैं; सच्ची प्रगति के प्रयोजन के वे नहीं हैं। सत्य-शोध के काम लायक वे नहीं हैं। सत्य-शोध के लिए समत्व-बुद्धि से चलना होगा। महात्मा और पापात्मा, ब्राह्मण और चाण्डाल सबमें समत्व-बुद्धि। उस समभाव के साथ ही जीवन-तत्त्व की असल जिज्ञासा और असल शोध हो सकेगी।

आशय कि जब हम दृढ़ता के साथ मान लेंगे कि आदमी कोई अच्छा और कोई बुरा नहीं है, सब अच्छे हैं क्योंकि सबमें ईश्वर का वास है और सब बुरे हैं क्योंकि सब ईश्वर से भिन्न हैं, निश्चय के साथ जब हम यह मानकर चल सकेंगे तब ही अच्छाई और बुराई के सवाल

का जवाब ढूँढने के अधिकारी होंगे।

अगर हम जानना चाहते हैं कि अच्छाई-बुराई क्या है तो हमें डाकू के बारे में जज के फैसले, या जज के बारे में अभियुक्त के फैसले को अपने मन से एकदम दूर हटा देना चाहिए। जिसको बुरा समझा है उस के भीतर से बुराई की गाँठ मिल जायगी और जिसको धर्मात्मा माना है उसमें से अच्छाई का मन्त्र मिल जायगा, यह मानना भ्रम है। आलोचना से व्यक्ति को पकड़कर कुछ नहीं मिलता। चीमटे से हवा नहीं पकड़ी जा सकती। व्यक्ति प्रेम से मिलता है। व्यक्ति के भीतर का सत्य भी प्रेम से मिलता है। बृहत् और व्यापक प्रेम का नाम ही समताभाव है। प्रेम से देखने पर दोषी अपने दोष के कारण बल्कि और भी करुण प्रेम का पात्र हो जायगा। उसी तरह प्रेम से लोगे तो जज की जजी का आतंक और ओट एकदम शून्य हो जायगी और जज नाम के आदमी की असलियत आँखों के लिए रह जायगी।

एक्स-किरण होती है न। उससे मांस के आवरण के आर-पार जो है वह दीख आता है। प्रेम भी वही किरन है। उससे ऊपर की व्यर्थताओं के नीचे और पार जो सचाई है उस पर नजर टिकने का सुभीता होता है। उतने गहरे में डाकू की डकैती और धर्मात्मा की माला और दुनियादार की अहम्-तुष्टि क्या तनिक भी बच सकती है? ज्वालामुखी के गर्भ में ज्वाला के अतिरिक्त क्या कुछ भी और हो सकता है? कूड़ा हो कि कंचन, सब वहाँ जाकर आग हो जाता है। इसी से कहना होता है कि अच्छे का अच्छापन और बुरे का बुरापन उन आदमियों की असलियत नहीं है। असलियत जानने के लिए उन पर हम-आपके चिपकाये हुए सब लेबिल फाड़कर अलग कर देने होंगे! लेबिल काम देते हैं, पर उन्हीं लेबिलों की जब पड़ताल का सवाल हो, तो वे ही काम में बाधा दे सकते हैं।

हम अच्छाई-बुराई को भीतर से समझना चाहते हैं, इसी से इतनी भूमिका की जरूरत हुई। अच्छाई-बुराई को समझने में हम एक कदम

भी आगे नहीं बढ़ सकते जब तक उन्हें तरह-तरह के आदमियों से चिपटी हुई देखने के हम आदी हैं। व्यक्तियों में जो भेद करती है ऐसी बुद्धि के पूर्वाग्रह शान्त नहीं हैं। अपने पूर्व-ग्रहों को पहिले भुला देना होगा। व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से ऊँचे हो जाना होगा। मत-मतान्तर से अपने विवेक को शुद्ध रखना होगा।

कल्पना है कि मौत के बाद लोग धर्मराज के आगे पेश होते हैं। तो क्या वहाँ सब अपने-अपने कपड़ों में ले जाये जाते होंगे? राजा ताज में और ग़रीब चिथड़ों में वहाँ पहुँचता होगा? कलक्टर साहब कलक्टरी लेकर और चपरासी कमर में चपरास बाँधकर क्या वहाँ पेश होता होगा? वह दरबार मेरा देखा नहीं है। पर मालूम होता है कि कपड़े सब यहीं रह जाते होंगे और अपनी भीतरी यथार्थता में ही उस अदा-लत में सब खड़े होते होंगे! जो विशेषण की आँख में आता है, वह छूट जायगा, और विशेष्य ही वहाँ पहुँचेगा। तब कौन जाने कि वहाँ इंजील की बात ही घटित दिखाई दे कि The first shall be the last and the last first.

आशय : अहंकृत मान्यताओं को चुप करके ही हम सत्य-विचार की दिशा में बढ़ सकते हैं। मान्य का आदर और घृणित का अनादर छोड़ दोनों को एक ज़मीन पर बैठने देना होगा, तब बात आगे चलेगी।

यानी अच्छाई-बुराई सच्चे तौर पर तभी जानी जा सकेगी जब आदमी में अच्छा-बुरा हमारे लिए कोई न रह जायगा।

(४)

ऊपर देखा कि व्यक्ति अच्छा-बुरा नहीं है। तब अच्छाई-बुराई कहाँ है?

१. कर्म में?

२. फल में?

३. आत्मा में?

४. परिस्थिति में?

[कह सकें कि अच्छाई-बुराई हो नहीं, तब तो ठीक है। पर क्या वह हम कह सकते हैं ? नहीं; भाषा में वह हम नहीं कह सकते। भाषा द्वैत पर सम्भव बनती है। अद्वैत मौन-श्रद्धा का विषय है। यह तो सच है कि जो अन्तिम है, वह अखंड है, उसमें तो अच्छाई-बुराई आदि सभी द्वित्व-मुक्ति पाते हैं। पर द्वैत काटने के लिए भी द्वैत का विचार किया जा सकता है।]

१. कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कर्म कर्त्ता से निरपेक्ष नहीं। माँ ने प्रेम की थपकी दी, दूसरे ने क्रोध से वैसे ही थपकी दी। यहाँ कर्म का रूप एक है, उसके मोल दो हैं।

२. फल मूल-भावना से भिन्न है। माँ के प्रेम की थपकी बच्चे को रुला भी सकती है, दूसरी और कोई बात हो सकती है जिसकी चोट शरीर पर न दीखे, मन पर गहरी पड़े। इस तरह आँख से या सहज बुद्धि से दीखनेवाला फल छल भी हो सकता है।

३. आत्मा यदि मूल-चैतन्य का नाम है तो यह बड़ी गहन-गवेषणा का विषय होगा कि अच्छाई-बुराई का द्वित्व वहाँ कैसे होने में आया ?

४. परिस्थिति में उसे देखना अपने को अपने से बाहर देखने के बराबर है। सचमुच उस सिद्धान्त पर चलें तो चोरी के लिए चोर को छोड़ना और उसके आसपास की परिस्थिति को पकड़ना होगा। यानी चोर को माफ़, और हवा को साफ़ करने में लगना होगा। उस बात में भी तथ्य है, पर तथ्य का अंश है। चोर अपनी परिस्थिति का शिकार नहीं; बल्कि अंशतः अपनी परिस्थिति का निर्माता भी है। उस दिन जाने किस कारण लहसुन की गाँठ कमरे में रखी थी। कमरा उसकी गन्ध से भरा मालूम हुआ। ऐसी हालत में उस गन्ध से छुटकारे का क्या यह उपाय होगा कि लहसुन की उस गाँठ को तो छेड़े नहीं, और सारे कमरे में इतर छिड़कते फिरें ? अर्थात्, कमरे में भरी गन्ध उस कमरे में रखी हुई चीज़ों से एकदम इतर वस्तु नहीं है। इस लिहाज़ से परिस्थिति में अच्छाई-बुराई देखना कारगर न होगा।

सवाल होता है कि तब फिर क्या करना होगा ?

बेशक सवाल वह सच्चा है। एक तरह वह नित्य है। प्याज को जानने के लिए उसके छिलके को छिलका कहकर छीलते चलें तो वह प्याज़ कहाँ रह जायगी ? 'यह भी नहीं,' 'वह भी नहीं,' इस पद्धति से 'जो है' क्या वह मिलेगा ? अन्त में 'नेति' ही हाथ रह सकती है।

पर मैं कहता हूँ कि 'नेति' से कोई क्यों घबरावे ? दार्शनिक का 'नेति' ही भक्त का 'तत्सत्' है। हम 'नेति' को शून्य रखने को लाचार क्यों बने रहें ? भक्ति हो तो 'न कुछ' (नेति) ही हमें 'सब कुछ' (ईश्वर) हो सकता है।

तर्क की सीमा निषेध की सीमा है। उस सीमा तक हमें ले जाने के लिए हम उसके कृतज्ञ ही हो सकते हैं। वह सीमा ही कारण है कि उसके आगे हम श्रद्धा का अवलम्ब थामें। कहा जायगा कि तर्क जहाँ रुक जाता है, उस हद से आगे भी कुछ है यह किस आधार पर माना जाय ? स्पष्ट है कि तर्क के आधार पर तो यह नहीं माना जा सकता। तब क्या सत्य को सीमित मानना होगा ? कठिनाई है तो यही है कि व्यक्ति लाचार होना नहीं चाहता। कहीं उसकी हद खींच दी जाय, यह वह नहीं सह सकता। शरीर की हद है, पर मन उस हद को नहीं मान सकता। इससे जहाँ हद आई और उससे आगे बढ़ने की सुमानियत आई कि वहीं वह उसे अपने भीतर की शक्ति से न मानने को लाचार हो जाता है। इससे तर्क को वह स्वीकार करता है, और जहाँ तर्क रुके, वहाँ श्रद्धा को स्वीकार करता है। आँख जहाँ तक जायगी वहाँ तक देखेगी। आँख नहीं जायगी, वहाँ व्यक्ति बुद्धि से जायगा। बुद्धि नहीं जायगी, वहाँ श्रद्धा से जायगा। अर्थात् अपनी आत्मा पर वह सीमा स्वीकार नहीं करेगा। सीमित शरीर के भीतर की आत्मा को असीम से कभी कुछ और वह नहीं मान सकेगा।

असल बात यह है कि कार्य-कारण की कड़ी जोड़ती चलने वाली बुद्धि चल सकती है स्थिति पर। नक़्शा बनेगा तो स्थिर कनवास पर।

कीलों से कील जड़ कर कनवास को खूब कस देते हैं, तब उस पर ड्राइंग खींची जाती है।

किन्तु यह सुविधा जीवन का चित्र बनाने या उसका विज्ञान समझने वाले के लिए नहीं है। जीवन-पट थिर है ही नहीं; वह प्रतिक्षण प्रवाही है। बहते पानी पर तस्वीर खिंचेगी तो कैसे? लकीर खींचते हैं कि बहाव सब भर देता है।

तो भी हवा शान्त हो; प्रकाश मध्यम हो, पानी कुछ सोया हुआ-सा बह रहा हो; तब किनारे पर बैठकर उस पानी की सतह पर चित्र भी दिखाई दे आता है। अधिकतर वह चित्र हमारा ही होता है। कभी किसी प्रियजन का भी वह चित्र हो सकता है। पर पानी के बहने के साथ चित्र काँपने लगता है, बिखर जाता है और धूप खूब फूटी हो तो वह चित्र बनना ही मुश्किल हो जाता है। इस तरह यदि बहते जीवन पर कोई हम अपना चित्र उभार देखते भी हैं तो अधिकांश सम्भव यह है कि जीवन-पट को सोया हुआ कल्पित किया है और उस पर हमने अपना ही चित्र उतार देखा है। वह जीवन का चित्र नहीं, हमारा अक्स है। यह भी हो सकता है कि उस चित्र के पीछे कनवास ही न हो और एक बेसुध तन्मयता में मानो शून्य पर ही उभार कर वह देख लिया गया हो।

अर्थात् तर्क के कदमों को थिर जमीन चाहिए। और जीवन एक बहाव है। इससे तर्क सब-कुछ करके भी उसके बहतेपन को नहीं पकड़ पाता।

यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि जीवन की गतिशीलता से अलग होकर अच्छाई-बुराई को नहीं समझा जा सकता है, समझा जायगा तो वह समझना गलत होगा। कर्म में, फल में, परिस्थिति में अच्छाई-बुराई को देखना जीवन के गति-पक्ष से अपनी दृष्टि को विमुख रखकर ही हो सकेगा।

किन्तु गति तो जीवन का लक्षण है। इससे गति-निरपेक्ष अच्छाई-

बुराई को बाँधने या खोलने वाली सब परिभाषाएँ अधूरी हैं। वे स्थिति को स्थिर करने का आग्रह करके जीवन की गति को रोकती हैं।

थिरता जड़ता है। जड़ता में अच्छाई-बुराई कहाँ? उसको गतिमय भाषा की परिभाषा में देखना और दिखाना सही हो सकेगा।

(५)

जीवन गतिशील है, इसका क्या अर्थ? गति में दिशा गर्भित है। गतिशील है तो किस ओर गतिशील है? या कि उसकी गति में दिशा नहीं, केवल मात्र स्पन्दन है?

स्पन्दन भर मानें और दिशा न मानें, तो काल का अस्तित्व व्यर्थ ठहरेगा। फिर ये बीतते जाते हुए दिन क्यों? इतिहास क्यों? भूत-भविष्य क्यों? अर्थात् जीवन प्रथमतः स्पन्दशील है ही, पर उस स्पन्दन में कुछ लक्ष्य है। केवल बेचैनी नहीं है, एक अभिलाषा है। उस अभि-लाषा का मानो एक केन्द्र है। यानी उसमें दिशा है। वह क्या?

इसके जवाब की भाषा पश्चिम की एक है, पूर्व की दूसरी है। भाषा भिन्न है। पर स्वर अभिन्न है। पश्चिम के प्रकृति-वैज्ञानिक और तत्त्व-विचारक ने जवाब दिया : विकास। अखिल सृष्टि अपने में विकास करती जा रही है। हम पर जो परिवर्तन हो रहे या हम जो परिवर्तन कर रहे हैं, और जिसका लेखा-जोखा इतिहास देता या उससे माँगा जाता है, उन सबमें से विकास अपने को सिद्ध कर रहा है।

अपनी ओर का मनीषी जीवात्मा से परमात्मा, खण्ड से अखण्ड और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जीवन की गति की दिशा को बत-लाता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि तमाम सृष्टि की गति ही जब एक दिशा में हो रही है तो दिग्भ्रम या निर्णय का सवाल ही कैसा? हम चाहें-न-चाहें, धरती तो घूम ही रही है। हमारे चलने-न-चलने की बात से क्या कुछ भी उसमें फर्क आता है? और यदि ऐसा है तो फिर

अच्छाई-बुराई का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

यह शंका इतनी अधिक संगत किन्तु सांघातिक है कि इसका जवाब ढूँढ़ने की चुनौती हर विचारक अनुभव करता है और कुछ उसका जवाब देने की भूल में भी पड़ जाते हैं। इस प्रश्न पर मानव-जाति के अनेकानेक मनीषी पहुँचकर सम्भ्रम से मौन रह गए, और अनेक विक्षिप्त हो गए। इसके जवाब पर जिसने मुँह खोला वही डूबा। और जिसने पाया वह चुप रहा। अर्थात् यह सवाल सवाल ही रहने के लिए है। इसका जवाब खुद वह जवाब होना है। और खुद होना ही जवाब न होने के बराबर है।

फिर भी समझने को कुछ सहारा (जवाब नहीं) हम पा सकते हैं। एक नदी-किनारे हम बैठे हैं। वहाँ धारा में फूल-पत्ते बहे जा रहे हैं। पर क्या देखते हैं कि कहीं वे फूल-पत्ते बहते-बहते रुककर चक्कर खा रहे हैं? या एकाध कुछ आगे जाकर किनारे-किनारे फिर हमारी ही तरफ़ लौटे आ रहे हैं! यानी, नदी समूची का बहाव एक ओर, और एक होने पर भी, अनेक कारणों से, उसके पानी में कुछ विषम गतियाँ भी सम्भव बनती हैं। नदी में जो भँवर पड़ते हैं, वह इसी विषम गति के कारण। यानी सारी नदी जब बह रही हो, तो पानी के लिए नितान्त रूप से दिशाभूल का प्रश्न नहीं उठता, सही; फिर भी जीवन के प्रवाह में आवर्त्तक-चक्र कुछ पड़ते ही हैं।

अब, कल्पना के लिए सही गति को हम ऊर्ध्व-गमन और उससे उल्टी गति को अधःपतन कहें। मानिए कि चित्र नं० १ में स द और ई फ रेखाएँ क्रमशः ऊर्ध्व-गमन और अधःपतन की दिशाओं को बतलाती हैं। रेखा अ ब हमारी आज की हालत की सतह है।

अ ब, रेखा बिन्दुओं से बनती है, वैसे ही जीवन कर्मों से बनता है। जीव की कर्म परम्पराबद्ध गति व्यक्ति-जीवन है। इसलिए रेखाएँ बिन्दु-रूप दिखाई हैं। बिन्दु मानो एक-एक कर्म है।

अब चित्र में स द रेखा पर बिन्दु क और ई फ रेखा पर बिन्दु ख

की ओर ध्यान दीजिये।

रेखा अ ब हमारे सामाजिक सदाचार की सतह को बतलाती है। क बिन्दु उससे अधोदिशा और ख बिन्दु ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। इसलिए उनकी गति से निरपेक्ष होकर देखें तो क नामक कर्म नीच-कर्म और ख पुण्य-कर्म कहा जा सकता है!
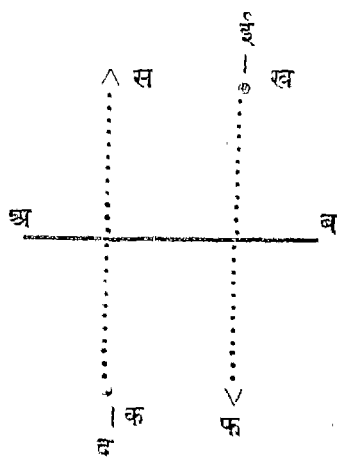
[चित्र नं० १]

लेकिन उन बिन्दुओं (कर्मों) को रेखा (व्यक्ति-भावना) से अलग करके देखने से हम भ्रम में पड़ते हैं। कर्म की कर्त्ता से अलग सत्ता नहीं है और एक कर्म अपनी परम्परा में एक कड़ी की तरह है।

इस भाँति उन बिन्दुओं को उनकी गति-दिशा की अपेक्षा में देखें तो मालूम होगा कि क का मुँह स की ओर होने के कारण वह ऊर्ध्वोन्मुख इसलिए सत्कर्म है, और ख अधोमुख अर्थात् असत्-कर्म है।

परिणाम निकला कि सत्-असत्, सु और कु कर्म की अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि व्यक्ति (कर्त्ता) की गति ऊर्ध्वमुखी है कि अधोमुखी

इस बात पर उस कर्म की जाँच निर्भर करती है। इसलिए बड़ा दीखने-वाला कर्म सत् और स्वल्प दीखने वाला असत् है—यह कहना भूल से खाली नहीं है। उसका मुख किस ओर है, वृत्ति किस दिशा में है, यह देखना ज़रूरी है।

पर बिन्दु में तो कोई दिशा होती नहीं। इसी तरह केवल कर्म से भी कुछ पहिचान नहीं होती। दिशा होती है भावना में, जहाँ से कर्म की उत्पत्ति है। अतः भावना की अपेक्षा में ही कर्म की अच्छाई-बुराई की पहिचान हो सकती है।

मानिए कि एक निस्पृह सन्त हैं। वह लाखों के श्रद्धा-भाजन हैं। एक करोड़पति उनके चरणों में दस हज़ार रुपये चढ़ाता है, और एक दीन दो रोज भूखा रहकर पचास कोस की मंजिल करके आता और उन चरणों में दो पैसे डालकर अपना सिर नवाता है। इनमें रकम के लिहाज़ से या बड़े या छोटे आदमी के लिहाज़ से उन दोनों के दानों की तुलना नहीं हो सकती। सभी पहिचान उनके भक्तिभाव के माप में ही हो सकती है। और उस तुला पर, कौन जानता है कि दो पैसे हज़ारों रुपये से भारी नहीं तुल सकते ?

इसी भाँति एक धार्मिक धनिक ने एक तीर्थ पर के सब अपाहिजों को दो-दो मुट्ठी अन्न दिया और दो हज़ार रुपये लगाकर ब्रह्मभोज कराया। पर, एक फ़कीर उन्हीं अपाहिजों के बीच में से हँसता हुआ सीधा निकल गया। कुटिया पर पहुँचा तो एक दीन देहाती जो दो मुट्ठी चबेना उसकी झोली में डाल गया, फ़कीर ने उसी प्रसन्न मुस्कराहट के साथ उस चबेने का भोग पाया और गंगा का पानी पी निश्चिन्त हो गया।

अब वैश्य की आँखों से करुणा का पानी आ गया है और उसने दिया ही दिया है। फ़कीर ने दिया कुछ भी नहीं; बल्कि सब देख हँसता रहा है। उलटे गरीब से दो मुट्ठी चबेना लेकर उसने अपने पेट में डाल लिया है। तो भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि श्रेष्ठि का दान सन्त

के ग्रहण मे उच्च कर्म है। ऊँच-नीच की पहिचान के लिए निगाह को कहीं अन्यत्र पहुँचने लायक बनाना होगा।

इस भाँति गति के विचार से अलग होकर केवल मात्र स्थिति में अच्छाई-बुराई नहीं देखी जा सकती। जो अधोमुखी हो और करे वह बुराई; और उत्कर्ष जो साधे वह अच्छाई।

और क्योंकि व्यक्तियों की भूमिकाएँ भिन्न हैं इसलिए बिलकुल सम्भव है कि एक के लिए एक कर्म अच्छा और दूसरे के लिए वही कर्म बुरा हो।

(६)

उसी प्रश्न पर एक-दूसरे ढंग से विचार करना उपयोगी होगा। उससे विशेषण नहीं, विशेष्य पर प्रकाश पड़ेगा।

हमारा व्यक्ति-जीवन क्यों है? इसलिए कि वह उत्तरोत्तर समष्टि रूप हो। इसी से व्यक्ति मरता है क्योंकि उसके सदा जीने में कुछ अर्थ नहीं। और उसी से फिर-फिर वह जीता है, ताकि कभी तो मुक्त हो। अर्थात् व्यक्ति के अहम् को, चाहे तो कहिए विशद होकर या कहिए शून्य होकर, अपनी कृतकृत्यता में निखिल के साथ मिल जाना है। व्यक्ति-व्यक्ति न रहे, विश्व हो जाय। बिन्दु सागर बन जाय।

यही उसके विकास, उन्नति या प्रयास की दिशा है। उस दिशा में बढ़ते जाना अच्छाई है, न बढ़ना बुराई है। न बढ़ने का अर्थ, स्पष्ट हो केवल रुकना नहीं, बल्कि गिरना है। क्योंकि चेतन जगत् में स्थिर कोई स्थिति नहीं। क्षण के लिए प्रयत्न ढीला हुआ कि व्यक्ति गिरा। सतत प्रयत्नशीलता ही एक बचाव है।

इस दृष्टि से अच्छाई और बुराई में तत्त्व-भेद नहीं है। रुकी भलाई बुराई हो जाती है और रुकी बुराई ही का दूसरा नाम भलाई है।

इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

चित्र नं० २ में चार चक्र हैं। सबसे अन्दर का चक्र मानिए व्यक्ति का अहंचक्र है। स्पष्ट हो कि सब चक्रों का केन्द्र एक ही है। यानी विश्व के और व्यक्ति के केन्द्र दो नहीं हैं। उसके पास-पास घूमनेवाला चक्र अ है—यानी व्यक्ति के स्व अर्थात् अहम् ने फैलकर मन-बुद्धि-शरीर आदि के साथ जड़ित होकर नाम-रूपात्मक एक व्यक्ति की संज्ञा धारण की है। उसके बाहर का चक्र (ब) जगत् के उस अंश को
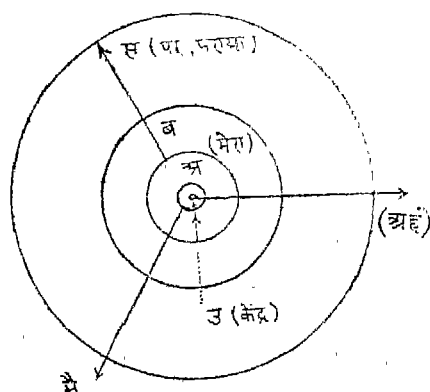
[चित्र नं० २]

व्यक्त करता है कि जिसके प्रति व्यक्ति अपनेपन अथवा स्वत्व का भाव रखता है। अर्थात् व्यक्ति दूसरी कुछ वस्तुओं में अथवा व्यक्तियों में फिर अपना स्वार्थ-भाव फैला चलता है। मेरा धन, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा मित्र, मेरा देश इत्यादि।

इस सीमा के बाहर जो है, वह (वृत्त स) व्यक्ति के लिए पर अथवा पराया है।

अब जीवन की सहज विकास गति यह है कि भीतर के चक्र और सबसे बाहर के चक्र में संवेदन की एकता हो और इस तरह भीतर का प्राणी बाहर के चक्र में अपने लिए जकड़ नहीं बल्कि मुक्ति और पूर्णता

अनुभव करें। भीतर की मुक्ति बाहर से विरुद्ध नहीं, बल्कि अभिन्न बनकर होगी। किन्तु यह कहने से तो नहीं होता। इसके लिए कल्प-कल्पान्तर और जन्म-जन्मान्तर चाहिएँ। भव-बाधा यही तो है।

किन्तु जीव की विकासशीलता की पहिचान इससे साफ़ हो जानी चाहिये। उ बिन्दु जो कि हमारा ही केन्द्र है, किन्तु असल में जो विश्व का भी केन्द्र है उससे क्रमशः अ, ब और स की दिशा में हमारे ऐक्य-भाव को बढ़ते चलना चाहिए। जहाँ यह गति आगे बढ़ने से रुकती है, वहीं से वह उलटी यानी अपनी ही ओर को मुड़ जाती है, यह मानना चाहिये। बस वहीं से वह अयथार्थ हो जाती, और बुराई को जन्म देती है। प्रश्न यही है कि स की परिधि की ओर उ की संवेदन-शक्ति कितनी दूर तक दौड़ने दी जाती है? साधारणतः ब, जो कि उसके स्वत्वभाव की वृत्ति है, उसकी परिधि से आगे व्यक्ति में मैत्री-भाव नहीं बल्कि कुछ वैर-भाव होता है। अर्थात् उस ब की परिधि पर स का कितना दबाव है, अथवा कितना खिंचाव है, इससे व्यक्ति का महत्व जाना जा सकता है। दबाव है तो बुराई, खिंचाव है तो भलाई।

अर्थात् व्यक्ति की परीक्षा वहाँ है जहाँ उसकी सीमा है। दूसरे शब्दों में जहाँ उसका मेरा समाप्त होता है और पराया शुरू होता है। वहाँ यदि उसकी चैतन्य-शक्ति अहंकृत होकर काम करती दीखती है और पर से विरोध व द्वेष ठानती है तो ठीक उसी जगह से बुराई का आरम्भ हो जाता है। और यदि उस सीमान्तर प्रदेश पर चैतन्य का प्रवाह अग्रगामी यानी पर के प्रति सहानुभूति में पूर्ण है तो वही क्रिया-शील भलाई की पहिचान है।

इसी बात को संक्षेप में यों कहें कि हम में से सब लोगों के स्वत्व-भाव की एक-एक परिधि है। परिधि के भीतर स्वभावतः सब कोई भला है। बाघिन भी अपने बच्चे को प्रेम करती है। अपनेपन के दायरे में हर कोई प्रेम ही करता है। सवाल वहाँ होता है जहाँ 'स्व' की परिधि 'पर' से टकराती है। अहिंसा का अथवा अच्छाई-बुराई का प्रश्न ठीक

वहीं उठता है ।

लाला ने जगराम को गाली देकर क्यों निकाला ? तुल्ला ने डाका क्यों डाला ? खूनी ने खून क्यों किया ? जज के हाथों कानून ने उसे फाँसी क्यों चढ़ाया ? साँप ने क्यों काटा ? बाघ ने क्यों फाड़ा ? इस सब के पीछे एक ही उत्तर मिलेगा। वह यह कि सबने अपने और अपनों के बचाव के लिए पर "पराये" की परवा नहीं की । उन्हें स्वराग था, इसीसे पर-द्वेष के रूप में वह फूटा ।

एक माँ अपने बच्चे को बड़ा प्यार करती है । वह प्यार कैसा प्यारा मालूम होता है। वह अच्छाई कही जायगी । पर उसी स्त्री को दूसरे बच्चे की तकलीफ तो छूती भी नहीं । यहाँ तक हो सकता है कि अपने बच्चे के लाड़ में वह ख़ामख़ा समझे कि पड़ोसिनें उसके लाड़ले पर जली मरती हैं, हाय, उसे नजर न लग जाय ! इस तरह बच्चे का प्यार अगर उसे दूसरों की तरफ़ सहानुभूति-हीन बनाता है तो वही बुराई का कारण होता है । बच्चे के लिए माँ के हाथों नृशंसकर्म होने की कहानियाँ कम नहीं हैं ।

मेरा परिवार भूखा है; बच्चे बिलख रहे हैं। बदन में दम रहते क्या मैं उनका बिलखना अनन्तकाल तक देखता ही रहूँ ? लानत ऐसे मर्द पर । इससे रात को निकलता हूँ और पड़ोसी की तिजोरी तोड़ वहाँ से भरे-हाथ लौटता हूँ । तब मैं कह सकूँगा कि मेरी आँखों में तो भूखा बच्चा ही था, किसी की बुराई न थी । फिर भी वहाँ बुराई है, और वह इसलिए है कि बच्चे को और उसके बिलखने को इतना अधिक अपना करके मैंने जाना कि पड़ोसी का दुख मेरी आँखों से एक दम शून्य हो गया । और इस तरह पर से अपने स्वभाव का विरोध मैंने स्थापित किया ।

इस भाँति जहाँ भलाई रुकी; और रुककर आत्मतुष्टि दीखी, वहीं से बुराई शुरू हो गई, यहाँ तक कि उस बिन्दु तक की भलाई भी बुराई में परिणत हो गई ।

दूसरी ओर मानिये कि एक चोर तय करता है कि बुरी लत तो मुझ से छूटती नहीं, लेकिन चाहे कुछ हो स्त्री पर, बच्चे पर और ग़रीब पर हाथ नहीं डालूँगा। यहाँ बुराई को रोका गया है, इसलिए चोर के इस इरादे में अच्छाई का बीज है।

उस दृष्टि से अपने बालक के प्यार में पड़ोस के बालक को पराया गिनने वाली माँ बुराई के रास्ते पर है। और प्रयत्नपूर्वक अपनी चोरी की लत पर रोक डालने वाला चोर अच्छाई के रास्ते पर है। वह माँ अपने राग अर्थात् दूसरे के द्वेष में रस लेती, उधर चोर अपनी चोरी से व्यथा पाता है। वह व्यथा ही है जो कर्म के बन्धन को काटती, और इधर स्वरत्यात्मक वह रस है जो उस बन्धन को बढ़ाता है। यहाँ गीता की उस शिक्षा की सत्यता पहचानी जा सकती है जहाँ कर्म में इष्टानिष्ट का भेद नहीं बताया, बल्कि कर्म में अकर्म को ही इष्ट बताया है। अर्थात् कर्म में जिस अंश में अकर्मता है, उसी अंश में अच्छाई है। कर्तृत्व का अहंकार यदि है तो कैसे भी भले कर्म में यथार्थ भलाई नहीं रहती।

ऊपर से अच्छाई-बुराई सापेक्ष्य शब्द हैं, इतना ही नहीं, पर उनके भीतर कर्मतः अभेद है यह भी हमें समझ लेना चाहिए। इसी को फैलाकर देखें तो मालूम होगा कि अपनी धार्मिकता से सन्तुष्ट धार्मिक अधार्मिक है और अपने पाप से दुखी और दग्ध पापी पुण्यात्मा है। क्योंकि कर्म में पाप-पुण्य नहीं, मनोवृत्ति में है। हृदय पर-दुख-कातर हो तो ही अच्छाई है। भीतर दूसरे में उपेक्षा और अपने में रति का भाव है तो सब कर्म बन्धनकारक यानी बुरा है।

धर्म और सम्प्रदाय

लोकमत अधिकांश जिनके पीछे चलता है उनमें दो तरह के लोग होते हैं। एक तो कहते हैं कि धर्म की हानि ही इस युग की समस्या है और धर्म का प्रचार इसका समाधान है। दूसरों का कहना है कि धर्म ही सब विषमताओं की जड़ है, वही रोग की गाँठ है और आत्मा-परमात्मा से छुटकारा मिलने पर ही जगत् का त्राण है।

ये दोनों ही प्रकार के लोग अपने को और अपने स्वार्थ को भूलकर देश या जाति के लिए प्राणपण से जुटे हुए दीखते हैं, दोनों ही इन्सान का भला चाहते हैं और आपस में कहीं तो कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलते हुए मालूम होते हैं। ऊपर से जान पड़ता है कि दोनों का इष्ट एक है और उनमें परस्पर सहयोग भी है।

इससे बड़ा भ्रम होता है। आस्तिक और नास्तिक, आत्मिक और भौतिक दोनों विचारों के प्रणेताओं में ऊपर चोटी पर जाकर हम परस्पर सहयोग देखते हैं, यद्यपि ये दोनों विचारधाराएँ आपस में एक-दूसरे की विरोधी जान पड़ती हैं।

धार्मिक जो चाहता है समाजवादी भी अन्त में वही चाहता है। वह समता चाहता है, सबके बीच स्नेहभाव चाहता है, शोक का अन्त चाहता है, सुख और प्राचुर्य चाहता है। दुःख, हिंसा, द्वेष, मात्सर्य आदि का वह नाश चाहता है। फिर भी वह धर्म नाम की चीज को

नहीं चाहता।

उधर धार्मिक की समझ में नहीं आता कि सुख, समृद्धि और शान्ति, धन पर जोर देने से और वासना को खुली छूट देने से कैसे पार पड़ सकती है? धर्म यदि कुछ है तो संसार-तृष्णा को मन्द करने का साधन है। उसके अभाव में समता और बन्धुता आ ही नहीं सकतीं।

यह विरोधाभास गलत-फहमी उपजाता है। यहाँ तक कि इन दोनों सिरों को लेकर दल बन जाते हैं जो एक-दूसरे के खण्डन में ही अपनी सार्थकता मानते हैं।

धर्म शब्द इस तरह विरोध का केन्द्र है। एक विचारधारा के लिए जो बौद्धिक, लौकिक, राजनीतिक है, धर्म विष की और स्वार्थ की गाँठ है। दूसरी विचारधारा जो श्रद्धामूलक आस्तिक और आत्मिक है वह धर्म में ही वह अमृत देखती है जिससे मरता समाज जी सकेगा और तरह-तरह के रोगों से छूट सकेगा।

मेरी धारणा है कि धर्म को लेकर यह विवाद-विग्रह बीच में सम्प्रदाय के आने के कारण होता है

आत्मस्वभाव है धर्म। इस तरह धर्म व्यक्ति में अन्तर्गत है। अपने शुद्ध रूप में वह अव्यक्त है। शब्द से अतीत है और अगोचर है, शरीर दीखता है, आत्मा का अनुमान और अनुभव होता है।

शरीर के बिना आत्मा देखी नहीं गई लेकिन आत्मा के बिना शरीर का भी उपयोग यही है; कि उसे श्मशान में भस्म कर आएँ। इस तरह शरीर की स्थिति आत्मा के ही कारण और आत्मा के ही लिए है, साथ ही शरीर से स्वतन्त्र होकर आत्मा भी नहीं जैसा है। इस तरह देही (आत्मा) देहाधीन है।

जीवन देह और मन (देही) के बीच असमन्जस और सामन्जस्य की एक अनवरत प्रक्रिया का नाम है।

आत्मा अपने को देह द्वारा व्यक्त करता है। इस तरह देह उसके

लिए साधन है पर वही प्रधान हो रहता है तो वह बाधा हो जाता है; तब आत्मा को प्रकट करने के बजाय उसको वह ढकता है। तब उनमें परस्पर विरोध उपस्थित होता है और आत्मा की साधना और उसकी मुक्ति के लिए शरीर का दमन और शासन करना होता है।

कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ असल में तो आत्म-ज्ञान और आत्म-चैतन्य के द्वार और वातायन हैं लेकिन उनमें वृत्ति जब भोग की (अहंकार की) हो उठती है तो उसका निरोध आवश्यक होता है। उसका यह आशय नहीं है कि इन्द्रियों को अथवा देह को नष्ट करना होगा—लेकिन यह आशय अवश्य है कि उनको वश तो करना ही होगा। जो अंश वश न हो उसका फिर नाश भी अनिष्ट नहीं है।

धर्म भी असल में अव्यक्त अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह धर्म धार्मिक के आधार से स्थित रहता या व्यक्त होता है। उसकी आराधना मौन से और उपासना एकान्त में हो सकती है। वही व्यक्त होकर स्तोत्र, श्रवण, प्रार्थना, भजन आदि का रूप लेता है। यहीं से वह उपयोगी अर्थात् एक से दूसरे तक जा सकने और काम आ सकने वाला बनता है।

इस प्रकार वह धर्म जो व्यक्ति को ही नहीं बल्कि एक समुदाय को या जाति को अपनी पारस्परिकता और एकत्रितता में धारण रखता है, भावात्मक ही कुछ नहीं होता बल्कि शब्दात्मक भी होता है। उसका तत्त्व, दर्शन, नीति, रीति और विधि-विधान होता है। धर्म एक संस्था का रूप लेता है, वह सम्प्रदायगत बनता है।

जो संस्थाबद्ध नहीं, उसकी चर्चा भी नहीं। मानव-भावना के लिए उसका कितना भी महत्त्व हो मानव-व्यवस्था में उसका हिसाब आवश्यक नहीं है। संस्था का रूप लेकर जब वह अमुक सम्प्रदाय का शासन-धर्म बन जाता है तब उपयोगिता और समस्या के धरातल पर उसकी गिनती होने लगती है।

मेरा मानना है कि जैसे शरीर के बिना आत्मा की स्थिति नहीं उसी तरह संस्था अथवा सम्प्रदाय के बिना अमुक धर्म की भी स्थिति

नहीं। लेकिन जैसे शरीर होते ही शरीरधारी के लिए जीवन एक समस्या और पुरुषार्थ बन जाता है वैसे ही संस्था और सम्प्रदाय के रूप में आने के साथ ही धर्म के लिए परीक्षा और प्रयत्न का अवसर आ रहता है।

सम्प्रदाय शब्द में अच्छी ध्वनि नहीं रह गई है। बोध होता है कि जरूरी तौर पर वह कोई स्थापित स्वार्थ है। सम्प्रदाय का जैसे मतलब है दूसरे सम्प्रदाय से विरोध और विग्रह। इस तरह कलह और द्वेष का उसमें बीज देखा जाता है।

एक तरह से यह ठीक भी है। मेरा शरीर मुझे दूसरे से अलग करता है और निज पर भेद का जीव पैदा करता है। उसी को आदि लेकर फिर और तरह के भेद जीव बनते और मजबूत होते हैं फिर भी जैसे शरीर को साध कर उसे सेवा पर लगाया जा सकता है। उसी तरह सम्प्रदाय को लाँघकर उसे भी इतर सम्प्रदायों की सेवा में नियोजित किया जा सकता है। जैसे शरीर को इनकार करने से शरीर से छुटकारा नहीं मिलता; बल्कि शरीर के स्वास्थ्य का अभाव ही हाथ आता और इस तरह शरीर स्वयं अन्त में अपनी सेवा कराता है। इसी तरह इधर मुझे जान पड़ता है कि किसी आग्रह में सम्प्रदाय को इनकार करने से एक प्रकार की सम्प्रदाय-शक्ति उलटी बढ़ती ही है। मानव-जाति के हितैषी जो धर्म के नाम पर चलते हुए सम्प्रदायों से रुष्ट होकर मूल धर्म पर ही चोट करते हैं उतना जनकल्याण नहीं साध पाते जितनी अशान्ति और अव्यवस्था वे उत्पन्न कर जाते हैं। यह नहीं कि सम्प्रदायों में मृत और जड़ वस्तु कुछ नहीं है जिसका परिहार करना होगा बल्कि यह कि जो जीर्ण और मृत है वह इसी कारण कि धर्म के मूलोद्गम से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है। शरीर का वह भाग जहाँ खून का दौरा नहीं होता मुर्दा हो जाता है और शरीर के स्वास्थ्य के लिए उसका अलग हो जाना जरूरी है। उसी तरह सम्प्रदाय की काया में भी जहाँ धर्म का शुद्ध रक्त प्रवाहित नहीं होता वह अंग स्वयं

गिर जाने के लिए ही है। लेकिन कोशिश तो यह करनी है कि मूल आत्म-स्रोत से धर्म-रक्त शरीर की शिरा-शिरा में प्रवाहित होता रहे। इस प्रक्रिया में जीर्ण अपने आप क्षीण होकर झड़ जाता है और नई त्वचा उसकी जगह लेती है। आये साल वृक्ष नया चोला पहनते और हर वसन्त में नया हरियाला रूप ले उठते हैं। यह अन्दर की प्राण-शक्ति से आप-ही-आप होता है। इसी तरह सम्प्रदाय यदि उनमें धर्म-श्रद्धा प्रवाहित रहे, सजीव बने रहते है और समष्टि की गति में बाधक होने के बजाय सहायक ही होते हैं।

किन्तु शरीर आत्म-निमित्त होकर मन्दिर अन्यथा तो कब्र और समाधि के समान है, उसी तरह सम्प्रदाय भी यदि धर्मगत और धर्म-वश है तब तो वह श्लाघनीय अन्यथा अनावश्यक और विघ्नकारक ही है।

सम्प्रदाय धर्मगत है कि धर्म सम्प्रदाय-गत यही मुख्य प्रश्न है। सम्प्रदाय जहाँ प्रधान है और धर्म उसके अनुगत, वहाँ धर्म की जगह अधर्म और परमार्थ की जगह स्वार्थ होता है। जहाँ सम्प्रदाय यदि है तो केवल धर्म को धारण करने के निमित्त से, तो वह सम्प्रदाय व्यापक समाज-शरीर के अन्दर एक उत्पन्न उपयोगी अवयव हो जाता है जैसे कि हमारे देह के अन्दर हृदय।

ऐसे सम्प्रदाय का लक्षण यही है कि वह उत्तरोत्तर आत्मगुणी हो। आत्मा के स्वभाव के वर्णन में जाने की आवश्यकता नहीं। वह मुक्त है, अव्याबाध है, आनन्दमय है। धर्म से तद्गत सम्प्रदाय भी अधिकाधिक तद्रूप होगा।

लोक-भाषा में कहें तो वह सम्प्रदाय जो धर्मप्राण होगा, भोग-प्रधान नहीं होगा। सम्पत्ति की जगह तप, संग्रह की जगह त्याग, प्रभुता की जगह प्रेम और ऐश्वर्य की जगह विनम्रता को प्रतिष्ठित करने वाला होगा, उसमें अपरिग्रह का मान होगा, उसमें अपने धर्म के अहं-कार की जगह दूसरों के धर्म के प्रति समादर जिज्ञासा का भाव होगा। वह सेवाभावी होगा और अधिकार के बजाय कर्तव्य पर उसकी निगाह

होगी। यह सम्प्रदाय जैसे शेष इतर सम्प्रदायों में अपने को स्नेह और सेवा-भाव से घुला-मिला देने को उत्कण्ठित होगा। दूसरों से पृथक और विशिष्ट होकर नहीं, बल्कि दूसरों के लिए अपने को उत्सर्ग करने की इच्छा रखेगा।

सप्राण और निष्प्राण व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों में इसी जगह अन्तर देखा जाता है। जहाँ व्यक्ति की अवधि है वहीं मानो विच्छेद है। अपनी सीमा-रेखाओं पर जब हम अभिमान का परकोटा खींच रखते हैं, बाहर के प्रति विमुख और सशंक हो जाते हैं, मानना चाहिए कि वहीं धर्म की इति और वहीं से अधर्म का आरम्भ है। धर्मप्राण व्यक्ति या सम्प्रदाय कोई पृथक्ता की रेखा खींचकर उसमें बन्द होकर बैठ नहीं सकते। ऐसा तब ही होता है जब जीवन के बारे में शंका पैदा होती है और संसार के भोग या आकांक्षा जन्म लेती है। जबर्दस्त दुर्ग जहाँ हैं जान लेना चाहिए कि उसके अन्दर विलास-कुंज भी हैं—जहाँ भोग और विलास हैं वहीं चारों तरफ ऊँची दीवारें खींचने की कोशिश है। प्रकृति तो मुक्त है और वायु पर कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। आत्मा का भी वही स्वभाव है। इससे जो आत्म-धर्मी सम्प्रदाय हैं उनके द्वार बन्द नहीं हो सकते; बल्कि वहां तो द्वार ही नहीं हैं, जैसे कि सूरज की धूप खुलकर चारों ओर से आती है, अमुक द्वार से होकर नहीं आती।

पहले कोट होते थे, दुर्ग होते थे। उनके दरवाजों पर मोटे कील लगे होते थे, अबके मकान खुले होते हैं और उनके द्वार मानो निमन्त्रण देते जान पड़ते हैं। वह शंका का काल था यह विश्वास का जमाना है। धर्म का लक्षण श्रद्धा है, अन्दर प्रसन्नता रखकर जैसे यह हो नहीं सकता कि बाँटने की इच्छा न हो वैसे ही धर्म को अन्दर रखकर यह भी कैसे हो सकता है कि पड़ोसी को अपना जीवन बाँटने की इच्छा न हो। यह तो सम्पत्ति है जिस पर आदमी पहरा बिठाता है ताकि कोई बाँट न ले। धर्म होगा तो बाँटे बिना चैन न पड़ेगा।

सम्प्रदाय पहले भी हुए और अब भी नए-नए बन रहे हैं। सजीव सम्प्रदाय धर्म को घेरते नहीं, फैलाते हैं। धर्म उनकी बपौती नहीं, उनकी सम्पत्ति नहीं, बल्कि वह उनकी वेदि, उनकी व्यथा और उनका मिशन होता है उसको लेकर वे बैठ नहीं सकते। बल्कि उसके पीछे सब छोड़कर उनको चलते ही रहना होता है।

ऐसे गतिशीलों का, त्यागियों का, व्रतियों का, सेवा-कर्मियों का सम्प्रदाय जो धर्म उत्पन्न करता है वह उस सम्प्रदाय को नहीं, बल्कि हर समुदाय और जाति को मुक्ति दिलाने में सहायक होता है। वह सम्प्रदाय होता है जो सुख दूसरों को देने के लिए खुद दुख अपने ऊपर लेता है। वह दावा नहीं करता क्योंकि सेवा करता है।

ऐसा यदि नहीं है, यदि उसमें अपने सम्बन्ध में अभिमान और दूसरों के लिए अवज्ञा है, उसमें स्थानिक प्रतिष्ठा का मान है और गृह-हीन अपरिग्रही सेवा कर्म की अवमानना है। जहाँ धर्म-संस्था सम्पत्ति-मूलक है और धनाढ्यता, सम्भ्रम और सत्ता का केन्द्र है, वहाँ निःसन्देह सम्प्रदाय, धर्म का अवरोधक है।

सम्प्रदाय धार्मिक ही नहीं राजनीतिक भी हो सकते हैं और होते हैं। हर सम्प्रदाय, यदि उनमें व्यवस्थाबद्ध एकत्रितता है, सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय इष्ट है यदि वह साम्प्रदायिक नहीं है यानी अपने को घुला-मिला देने की इच्छा से ओतप्रोत है। अनिष्ट है यदि उसको अपनी निजता का लोभ और अभिमान है।

सम्प्रदाय संख्या की दृष्टि से बड़े होने के कारण इष्ट और छोटे होने के कारण हेय नहीं समझा जा सकता। राष्ट्र बड़ा है इस कारण उपा-देय नहीं; बल्कि है तो इस कारण है कि वह अपने को समष्टि के साथ तन्मय कर देना चाहता है। अन्यथा तो वह राष्ट्रीयता, जो इतर राष्ट्रों के विरोध पर फलती है, अशुभ ही है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि अनेक सम्प्रदाय हैं और निश्चित भौगोलिक सीमा-रेखाएँ उन पर नहीं हैं। राजनीतिक पार्टियाँ हैं जिन्हें सम्प्रदाय क्यों नहीं

कहा जा सकता ? फिर जैन, सिक्ख, पारसी आदि हैं इनमें प्रत्येक उसी अंश में उपयोगी हैं जिस अंश में उनकी श्रद्धा दूसरों से योग स्थापित करने और उनके हित में काम आने में तत्परता देती है। वहीं तक अनुपादेय हैं जिस हद तक कि उनमें साम्प्रदायिकता यानी अपने सम्बन्ध में आग्रह-शील पृथक् भावना और पृथक् स्वार्थ चेतता है।

अधिकांश कठिनाई यह होती है कि अपना सम्प्रदाय व्यक्ति को इतना सहज और उचित जान पड़ता है कि मानो वह तो सारी दुनिया के लिए ही हो और दूसरे का सम्प्रदाय सीमित और संकुचित जान पड़ता है। इस तरह हर उतना ही मतवादी (फिर वह मत धार्मिक हो कि लौकिक) दुनिया को मानो अपने उस विशिष्ट मतवाद के अन्दर लाकर सम्प्रदायहीन बना देना चाहता है और इस तरह शेष सब सम्प्रदायों को उद्बोधन देने बढ़ता है। लेकिन जैसे कि यह किसी का वश नहीं है कि वह व्यक्ति न हो, अमुक कुटुम्ब या परिवार का सदस्य न हो, अमुक भौगोलिक देश, प्रान्त, नगर या जिले का रहने वाला न हो, उसी तरह यह भी सम्भव नहीं है कि वह अमुक सम्प्रदाय का न हो। अपनी सब सीमित निजताओं को खोकर समष्टि में लीन हो जाने की भावना यों किसमें निहित नहीं है ? वही तो है मुक्ति और उसका स्वप्न उसकी परमाभिलाषा कहाँ अविद्यमान है ? किसी में कम जगी है किसी में अधिक। पर व्यष्टि और समष्टि में विरोध तो नहीं है, न व्यष्टि और समष्टि के बीच दूसरी कल्पनाओं (समुदायों, सम्प्रदायों, जातीय राष्ट्रों आदि) को असत् ठहराने की आवश्यकता है। एक के इनकार पर दूसरे को सिद्ध करने की कोशिश व्यर्थ ही है। व्यक्ति सारे विश्व के साथ ऐक्य अनुभव करने के लिए उसको निजता देने वाले शरीर को काटकर नहीं फेंक सकता। तन से साढ़े तीन हाथ ही वह रहने वाला है फिर कोई उसे नहीं रोकता कि मन से वह सारी सचराचर सृष्टि के साथ आत्मीयता का अनुभव कराए। तन की सीमितता से आत्मा और मन सीमित न हों तो ऐसी तन की सीमा भी भूषण होती है, ठीक इसी

तरह सम्प्रदाय की स्थिति माननी चाहिए। अमुक सम्प्रदाय में रहकर यदि शेष से उसकी विमुखता हो जाती है तो वह साम्प्रदायिकता अधार्मिक है लेकिन हिन्दू बनकर मानव-मात्र, जीवन-मात्र का बन्धु और आत्मीय बनने में न केवल कोई बाधा नहीं आती है बल्कि व्यक्ति जागरूक हो और श्रद्धा सच्ची हो तो सहायता ही मिलती है। ऐसे व्यक्तित्व का हिन्दुत्व दूषण नहीं भूषण ही है, यही इतर धर्मों और सम्प्रदायों के बारे में मानना चाहिए।

सम्प्रदाय का बाहर का द्वार दुनिया की तरफ है अन्दर का आत्मा की तरफ है। उस द्वार से अगर वह अपनी आत्मा को जगत् के प्रति दान करता है तो वह अपने को सिद्ध करता है और अगर उसको दुनिया ही में से खींचकर अपने अन्दर इस तरह ठूँसता है कि वहाँ आत्मा बेजान और बेमान हो जाय तो निश्चय वह सम्प्रदाय अपहरण करता है।

अन्त में कहना होगा कि हर एक सम्प्रदाय जी सकता है बशर्ते कि वह अपने जीवन को दूसरे के लिए समझे और होमे। संक्षेप में वह धर्मगत हो, साम्प्रदायिक न होकर धार्मिक हो, लेकिन सम्प्रदाय जब कि स्वयं धर्मगत न होकर धर्म को सम्प्रदायगत बनाता है तब वह निश्चय ही एक स्थापित स्वार्थ का स्वरूप होता है। इस अवस्था में वह जगत् की समस्या को और उलझाता है और उसमें गाँठ और पेच पैदा करता है।

समुदायगत धर्म स्वार्थसाधन का बहाना है लेकिन धर्मगत समुदाय एक सहयोगियों का वर्ग है जो कि जगत् को सहयोगी जीवन के लिए अनुकरण का आधार दे सकता है। वह स्थापित स्वार्थ नहीं है जैसे कि एक अनासक्त वीतरागी पुरुष को लेकर एकत्रित हो उठी एक संस्था स्थापित स्वार्थ नहीं है।

धर्म और संस्कृति

इधर धर्म शब्द का महत्त्व कम हो रहा है और संस्कृति शब्द की लोकप्रियता बढ़ रही है। धर्म अनेक हैं और उनमें अनबन देखी जाती है। उनके पण्डित आपस में विवाद में उलझते हैं और उनके अनुयायी अपने अलग-अलग शास्त्र-सूत्रों को लेकर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। यह दृश्य किसी के लिए रुचिकर नहीं है। हमारे पास साधनों की जो प्रचुरता होती जा रही है, उससे दूरी को टिकने के लिए अवकाश नहीं छूट रहा है। सब कोई आसपास आते जा रहे हैं। अपने को अलग-अछूता रखने की सुविधा मिट रही है। देश की, जाति की, भाषा की और इस तरह की अनेक भिन्नताएँ भी जैसे अब सहारा नहीं होतीं और उस सबके बावजूद हम एक ओर इकट्ठे बनते जा रहे हैं। विज्ञान ने ऐसे अचरज पैदा कर दिए हैं कि इस कोने में बैठे हम दुनिया के हर कोने से सम्बन्ध रख सकते हैं। इस ओर से किसी भी छोर के आदमी से बातचीत कर सकते हैं। ऐसी हालत में वह शब्द जो अपने में बन्द पड़कर ही सार्थक बनता है, आज के काम के योग्य नहीं रहता। धर्म आज कुछ ऐसा ही शब्द बन गया है। धर्म, सब मानेंगे, भीतर से बहुत अच्छी चीज़ है। लेकिन धर्म जब अपने अनुयायियों को मिलाता है, तब दूसरों को परे रखने में वह सहायक भी हो जाता है। धर्म अनेक हैं और उनकी अनेकता के कारण संघर्ष होते आए हैं। कभी तो

ये संघर्ष बड़े अमानुषिक और बीभत्स तक हो गए हैं। प्रत्येक धर्म की कोशिश रही है कि वह धर्मों की अनेकता को इस तरह मिटाए कि खुद सार्वभौम एकच्छत्र बन उठे। इस एकता के मनोरथ को लेकर एक धर्म ने अन्य अनेक धर्मों पर प्रहार किए और उन पर विजय साध लेनी चाही है। धर्म के साथ इसीलिए विचार और वाद की एक जड़ता और कट्टरता का बोध होता रहा है। निश्चय ही कट्टरता से और कट्टरता उपजी है, कटी नहीं है। इसी तरह अनेकता को नष्ट करने की स्पर्धा ठानकर एक विशिष्ट रूपाकार की एकता को प्रतिष्ठित करने के आग्रह में से अनैक्य बढ़ा ही है, घटा नहीं है।

समय था जब इस प्रकार का आग्रह उपयोगी समझा जा सकता था। लेकिन इतिहास में से जीवन विकास पाता गया है और हिंसा से हम अहिंसा की ओर बढ़ते आए हैं। पहले जो शौर्य था, अब तमाशा बना देखा जा सकता है। मत और वाद का लाठी के ज़ोर से होने वाला प्रचार अब कुछ उपहास्य बन गया है। अच्छी-से-अच्छी चीज़ को अब मानो यह सुभीता नहीं कि वह हठात् अपना आरोपण करे। स्वतन्त्रता सबका अधिकार आ गया है, जिसका अर्थ है कि दूसरे पर हावी होने का किसी को अधिकार नहीं रह गया है। प्रहार की स्वतन्त्रता तो पशु की होती है, प्रेम की स्वतन्त्रता मनुष्य की विशेषता है—यानी यह मनुष्य का ही हक है कि कोई उस पर प्रहार करे, तो बदले में वह प्रहार न दे, प्रेम दे। स्वतन्त्रता का यह रूप मनुष्य को अब उत्तरोत्तर उपलब्ध होता जा रहा है।

काल का इतिहास हिंसा से अनिवार्य रूप से हमें अहिंसा की ओर बढ़ाता आया है, यह तथ्य कदाचित् सहसा कुछ लोगों को मान्य न होगा। एक-से-एक भीषण युद्ध की फसल हम बोते और काटते चले आ रहे हैं। युद्ध वे उत्तरोत्तर इतने विराट् और व्यापक होते जा रहे हैं कि पहले की कल्पना तक वहाँ न पहुँचती थी। आधुनिक शस्त्रास्त्रों के मुकाबले में प्राचीनता के पास भला क्या था? अणु-बम और उद्जन-

बम की संहार-शक्ति की तुलना में पुराण का कौन-सा ब्रह्मास्त्र ठहर सकता है ? इस सबको देखते हुए यह दावा कि मानवता अहिंसा की ओर बढ़ी है, झूठा लग सकता है। पर झूठ वह है नहीं। युद्ध की विराटता ज्ञान-विज्ञान में से मिली है। उसमें कारण यह नहीं है कि आदमी का हिंस्र-भाव पहले से बढ़ गया है। हिंसा में गौरव और गर्व अनुभव करने का भाव निश्चय ही मनुष्य में पहले से क्षीण हुआ है। हिंसा तो है, पर हिंसा का खुला समर्थन कहीं नहीं है। हिंसा को उत्तेजन है तो सीधे नहीं, आड़े-टेढ़े तरीके से—यानी सामने तो आदर्श के रूप में अहिंसा को ही लिया जाता है, फिर उसकी ओट में बुद्धि की प्रवंचना द्वारा हिंसा को ढँक भले रखा जाता है। इस प्रकार विश्व-युद्धों की परम्परा को सामने देखते हुए भी यह निर्णय कि मानवता हठात् और अनिवार्य अहिंसा की ओर बढ़ रही है, असत् नहीं ठहरेगा, बल्कि वह विज्ञान-सिद्ध और तर्क-संगत जान पड़ेगा।

हम आज ऐसी जगह पर आ गए हैं, जहाँ प्रहार का हक़ एकदम असिद्ध बन गया है। ठीक को भी ग़लत पर प्रहार करने का हक़ नहीं है। असल में ठीक की धारणा ही निरपेक्ष से सापेक्ष बनती जा रही है। किसी को अपने को इस रूप में ठीक मानने का हक़ नहीं रहता जा रहा है कि वह दूसरे को ग़लत कहकर उस पर हावी होने की सोच सके। प्रत्येक के लिए ही नहीं, समाजगत और सर्वगत एक मान आवश्यक होता जा रहा है। इधर जो समाजवाद और साम्यवाद नाम की विचार-धाराएँ चली हैं, उन्होंने अवसर नहीं छोड़ा है कि एक अपने को अन्य अनेक से सर्वथा भिन्न और पृथक् मानकर रह सकें। एक सबके साथ है, अपने में वह समाप्त नहीं है। शेष में ही फैलकर एक को चरितार्थ होना है।

धर्म निश्चय आत्म-केन्द्रित है। इस अर्थ में वह आध्यात्मिक है। कोई आध्यात्मिकता निरी आत्मरत होकर जी नहीं सकती। ऐसे वह असामाजिक होती है। समाज के अभाव में व्यक्ति की स्थिति नहीं है।

इसी तरह असामाजिक होकर धर्म की स्थिति नहीं रहती। किन्तु अनेक बार ऐसा होता था कि धर्म को लेकर व्यक्ति अपने समूचे दायित्व को अपने ही प्रति इस तरह मान उठता था कि समाज के प्रति वह दायित्व-हीन बन जाता था। ऐसे धर्म गुत्थियों और ग्रन्थियों की सृष्टि करने में कारण बन जाता था और परिणाम में सामाजिक विषमता उत्पन्न होती थी। इस विषमता को लेकर तो मानव-चेतना का विकास सध नहीं सकता था। इसलिए धर्म के नाम पर जब मानव-चैतन्य की हानि होती देखी गई, तो दूसरे शब्दों में धर्म के नाम पर अधर्म की ही प्रतिष्ठा हुई, तब उस धर्म शब्द का महत्त्व घटने लगा। चहुँ ओर फैलती हुई मानव-सहानुभूति ने धर्म शब्द का सहारा छोड़ा और उसके लिए दूसरे शब्द की आवश्यकता हुई। 'संस्कृति' वही शब्द है।

संस्कृति में स्पष्ट ही सामञ्जस्य की ध्वनि है। किसी अवस्था में भी विग्रह के समर्थन के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। बढ़ता जाता हुआ आपसी भाव—ऐक्य-भाव—उसका सार इष्ट है। कहीं वृत्त वहाँ बन्द नहीं होता। आत्म के लिए आत्मोपमता के भाव को बढ़ाते जाने का सदा ही अवकाश है। मैं आत्मा हूँ, यहाँ से आरम्भ करके सब-कुछ मुझे आत्मीय है, इस सिद्धि तक साधनार्थी व्यक्ति को बढ़ते ही जाना है। आत्म की धारणा पर स्वयं में बन्द होकर आत्म-हत्या तो हो सकती है, आत्म-मुक्ति नहीं हो सकती, मानो संस्कृति में यह चेतावनी है। संस्कृति का मुख किसी आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर नहीं है, वह तो बाहर की ओर खुलकर फैली हुई निखिलता के प्रति है। संस्कृति यदि कुछ है, तो सामाजिक है। किसी भी बहाने असामाजिक, समाज-विरुद्ध या समाजातीत होने की अनुमति उसमें नहीं है।

निश्चय ही संस्कृति की माँग से कोई धर्म अथवा मतवाद स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अपना कहकर किसी धर्म में आदमी को यह छूट नहीं हो सकती कि वह दायित्वहीन और उच्छृङ्खल व्यवहार करे। स्वधर्म-पालन पर संस्कृति की ओर से एक मर्यादा आयगी ही। मेरा धर्म मुझे

दूसरों के प्रति नम्र न बनाकर उद्धत बनाये, तो वह सहा नहीं जा सकेगा। धर्म का सम्बन्ध चरित्र और व्यवहार से छूटकर जब मत-मान्यता से अधिक हो जाता है, तब स्पष्ट ही मानव-संस्कृति को आकर उस मत-मान्यता से धर्म का परित्राण करना होता है। हम देखेंगे कि मत-धर्म और मानव-धर्म में यह संघर्ष सदा ही विद्यमान रहा है। जो धर्म को मतवादिता के द्वारा पकड़ते हैं, वे उस रीति से धर्म को जकड़ते और अपने को भी जकड़ते हैं। दूसरे वे हैं, जो सहानुभूति में उसको स्वीकार और अंगीकार करते हैं। ऐसे दो प्रकार के लोगों में संघर्ष रहता आया है। सन्त-महात्माओं को सदा पंडितम्मन्यों के हाथों यातनाएँ भुगतनी पड़ी हैं। धर्म जिनके लिए सम्पत्ति के अर्थ में स्वत्व बन आया है, उनको कालगति के साथ चलने में कठिनाई हुई है। ऐसे सम्प्रदाय-धर्म और मानव-धर्म के बीच में तनाव और विग्रह होता रहा है।

धर्म का यह अपलाप देखने में आता है, इसलिए संस्कृति शब्द का सहारा यदि लिया जाय और अपनी अन्तस्थ सहानुभूति का उत्तरोत्तर विस्तार साधते चला जाय, तो यह युक्त ही है। फिर भी उस धर्म शब्द का बहिष्कार उचित न होगा। कारण, नितान्त सामाजिक होकर व्यक्ति समाज के प्रति अपना दायित्वपूर्ण नहीं कर पाता। समाज का अनुगत होकर चलने में समाज का ही सच्चा हित नहीं है। अनुगति में आत्मदान की पूर्णता नहीं है। जो समाज के हित में आत्म-भाव से समर्पित है, उसे समाज का बन्दी होने की आवश्यकता नहीं है। वह समाज का सहयोगी है और आवश्यक होने पर वह उसका नेता भी हो सकता है। नेता का मतलब है साथ होकर भी एक कदम आगे चलने वाला। यह जो एक कदम आगे होकर चलने की बात है, वह निरे सामाजिक आदर्श से पूर्ण नहीं हो सकती। इसके लिए सामाजिक से कुछ उच्चतर आदर्श की आवश्यकता होगी।

आधुनिक लौकिक दर्शन-वादों के लिए समाज जैसे परिधि बन

गया है। जो दर्शन समाज से घिर जायगा, वह समाज को फिर उठा कैसे पायगा? इसलिए आदर्श को या लक्ष्य को समाज की सीमा में नहीं बाँधना होगा। उसे कुछ ऐसे व्यापक भाव में ग्रहण करना होगा, जिसका सत्य समाज में समाप्ति न पा जाय, बल्कि वह उससे अन्यत्र और अतीत होकर भी संगत और सिद्ध रहे। यानी एक सर्वान्तर्व्यापी सत्ता से उसकी अन्विति हो।

संस्कृति शब्द इसी अपेक्षा में कुछ अपर्याप्त रह जाता है, मानो मानव-सम्बन्धों तक उसकी व्याप्ति है, मानवेतर सत्ता के प्रति उसकी पहुँच नहीं है। सूरज, चाँद और रात को चमक आने वाला नक्षत्र-मण्डल—इस सबके प्रति मनुष्य का जो विस्मय-विमुग्धकारी सम्बन्ध है, उसका समावेश संस्कृति में नहीं होता। इस निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस परम सत्ता से संस्कृति की कुछ पहचान नहीं है, जो अलख निरंजन है, जिसके बिना दूसरा नहीं है, जो स्वयं है और शाश्वत है, जो शुद्ध, अन्तिम, परम और अखण्ड सत् है।

यह स्पर्धा तो धर्म की ही है। इह लोक पर वह अटका नहीं है और खुलकर वह पारलौकिक है। समाज नहीं, समष्टि उसे इष्ट है। जीवात्म को अपने द्वारा उसे परमात्मत्व देना है, खंड को अखंड करना है और अंश को सम्पूर्ण की ज्योति में ज्योतिष्क। निःसन्देह धर्म आत्मिक ही हो सकता है। आत्मिक होने में खतरा है। आत्मिक सामाजिक नहीं भी है। लेकिन यह खतरा ही उसकी कीमत है। आत्मिक निश्चय ही सामाजिक से सत्यतर है, पूर्णतर है। उस आदर्श में व्यक्ति सर्वथा निस्व और मुक्त हो सकता है। समाज में निजता बँध ही सकती है, खुलेगी वह पूरी तरह समष्टि में ही। सामाजिकता में व्यक्ति की निजता सदा ही अनेकता में उस एक की गिनती बढ़ाने वाली रहती है। आत्मिकता ही है, जिसमें अन्ततः उसकी गिनती भी नहीं रह जाती। वह सर्वथा शून्य बनता और इस तरह अनेकता को सच्ची एकता देता है। व्यक्ति की सम्पूर्ण मुक्ति, जहाँ उसकी कृतार्थता किसी प्रकार भी उसकी ओर

सिमटती नहीं है, बल्कि चहुँ ओर खुलती और फैलती ही जाती है, यदि है, तो उस धर्म में, जो आत्मिक है; उस संस्कृति में नहीं, जो निरी सामाजिक है।

इसलिए प्रचलित धर्मों की अनेकता और विग्रह-विवाद आदि की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी धर्म शब्द की मूलभूत आवश्यकता से छुट्टी नहीं ली जा सकती। संस्कृति शब्द उसकी जगह नहीं भरता। संस्कृति में से हम मानवेतर जगत् के साथ समस्वरता नहीं प्राप्त करते। चराचर जगत् को जो एक नियम धारण कर रहा है, उस के साथ तादात्म्य का बोध उस शब्द में नहीं समा पाता। जगत्-गति में एक लय-ताल है, सब कहीं एक आनन्दोल्लास की लीला है। धर्म-मूल में जैसे उसी सच्चिदानन्द की खोज है, उसी में तद्गत होने का प्रयास है, निजता को निखिलता से मिला देने की साधना है। संस्कृति इस परम पुरुषार्थ से विलग या विच्छिन्न होकर नहीं, आधार में उस को स्वीकार करके ही सार्थकता प्राप्त कर सकती है।

दो शब्द

दो शब्द इधर बहुतायत से सुनने में आने लगे हैं जैसे वे अनिवार्य हों। शब्द अंग्रेज़ी के हैं; पर आज हिन्दुस्तान में वे खासे चलते हैं। देशी उलथा उनका कोई उतना ठीक नहीं बैठता। कारण तद्गत भेद-भाव शायद देशी नहीं है।

वे शब्द हैं : रीयलिज़्म और आइडियलिज़्म। उनके अनुवाद बन गए हैं—यथार्थवाद और आदर्शवाद।

मुझे कुछ ठीक पता नहीं चल सका है कि इन शब्दों की क्या सीमाएँ हैं। कोई किसी अर्थ में उन्हें प्रयोग करता है, दूसरा दूसरे अर्थ में। इससे सफ़ाई के बजाय कुछ उलझन बढ़ती है।

एक बार सुन पड़ा कि कहानियाँ लिखने में जैनेन्द्र यथार्थवादी है। आदर्श की रक्षा वहाँ नहीं है। जिन्होंने यह कहा, भरी सभा में और निश्चय-पूर्वक कहा था।

दूसरी जगह बताया गया कि यथार्थ की रक्षा जैनेन्द्र की कहानियों में बिल्कुल नहीं हो सकी है। वहाँ कोरा आदर्शवाद है। यह कहने वाले भी दृढ़ता से कह रहे थे और विवाद के लिए प्रस्तुत थे।

दोनों विज्ञ। टालें तो किसे? ग़लत वे थे नहीं; क्योंकि विज्ञ थे उनके ढंग से मालूम होता था कि वह जानते हैं कि वह सत्य भाषण कर रहे हैं। किसी को मौका नहीं है कि कहे कि दोनों में से कोई असत्य कह

सकता है। पर विज्ञों के बीच होकर मुझ-सा अज्ञ क्या करे? अज्ञ की बड़ी विपदा है। क्या वह उन शब्दों को कानों पर से होता हुआ कोरा निकल जाने दे? यह तो विज्ञता की अवज्ञा होगी। तो क्या उन शब्दों से आतंकित होकर मूढ़ से मूढ़तर हो जाय? ऐसा करे तो निज की ख़ैर नहीं। फिर वह यथार्थ और आदर्श के भेद को और अभेद को लेकर करे तो क्या? अपरिचित शब्दों से भरे वाक्-सागर में वह तो वैसे ही डूबता-सा मालूम होता है। तिस पर जब विज्ञ-जन झगड़ने लग जायँ, तब वह तिरता रहे तो किसका सहारा थामकर?

रीयल क्या? और आइडियल क्या? रीयल की हिन्दी यथार्थ है और आइडियल की आदर्श। सो वह यथार्थ और आदर्श क्या, इसकी कुछ टटोल करनी चाहिए। उसके बाद उनके 'इज़्म' यानी वाद फिर अपनी परवा स्वयं कर लेंगे।

असल में शब्द को बहुत ऊपर ले जायँ तो वे अपने से भी ऊपर जा सकते हैं। कहते हैं कि सृष्टि के आदि में था शब्द। वह जो हो; लेकिन मामूली तौर पर शब्दों को उठाकर व्यवहार के तल से ऊँचा नहीं ले जाना चाहिए। जहाँ वे अपने से ही ऊपर उठ जाते हैं, वह होता है काव्य। वहाँ शब्द के शब्दार्थ नहीं, उसके ध्वन्यर्थ से प्रयोजन होता है। लेकिन काव्य है अतर्क्य। समझ अतर्क्य नहीं हो सकती। इससे जहाँ समझ की बात की जा रही हो, वहाँ शब्द को उसी तल पर रखना चाहिए जिस तल पर कि बोल-चाल में उसे समझा जाता है।

यथार्थ नाम सत्य का भी हो सकता है; पर जिसमें वाद लगा हुआ है, उस यथार्थ का मतलब शायद इतना विस्तृत होने के लिए नहीं है। वहाँ तो मानो अर्थ जिसकी सीमा है, वही है यथार्थ!

सामने मेज़ रखी है, एक कुर्सी भी रखी है। वे नप सकती हैं, तुल सकती हैं। उनकी क़ीमत में तुलना हो सकती है। उनका उपयोग हम को मालूम है। इससे मेज़ और कुर्सी हुई यथार्थ।

कुछ शायद उस यथार्थ शब्द के प्रयोग में यह भाव है कि उन मेज़

और कुर्सी के बारे में दो आदमी दो राय नहीं रख सकते। दो मत वे रखेंगे भी, तो झट फ़ैसला किया जा सकता है कि यह तो ग़लत है और वह सही है। एक ने कहा कि मेज़ शीशम की है। दूसरे ने कहा कि सागौन की है। या एक ने पचीस रुपये और दूसरे ने तीस रुपये उसकी क़ीमत बताई। तो मेज़ की यथार्थता दो में से एक को इस तरह सही साबित कर देगी कि दूसरे को अपनी ग़लती माननी ही होगी।

यह हुआ यथार्थ। यानी जिसकी यथार्थता निश्चित मान के पैमानों में आ सके। जहाँ तक यह सम्भव है, वहीं तक यथार्थ की यथार्थता खिंच सकती है।

पर जहाँ यह सम्भव नहीं है, वहाँ?

यह तो साफ़ है कि पैमाने किसी वस्तु को नाप कर ख़त्म नहीं कर सकते। यानी उसे सब तरफ़ से पूरी तरह नहीं नाप सकते। वस्तु की अगणित सम्भावनाएँ हैं जो पैमानों की पकड़ में नहीं आतीं। इस तरह हरेक ही चीज़ नाप-तौल के बाहर भी रह जाती है। नाप में वह नहीं, हमारी बुद्धि नपती है।

मेज़ जब तक मेज़ है, तब तक तो बहुत आसान चीज़ है; लेकिन जब उसकी विशिष्टता में न देखकर उसकी साधारणता में उसे देखना चाहते हैं तो, मालूम होता है कि मेज़ उतनी सरल-सी चीज़ नहीं है। उस निगाह में मेज़ ज़रा देर में मेज़ तक ही नहीं रहती। वह लकड़ी हो जाती है; लकड़ी पदार्थ हो जाती है; पदार्थ तत्त्व हो जाता है। और इस तरह जो अभी मेज़ थी, देखते-देखते वह एक अणुओं का स्कन्ध बन जाती है। और आगे चलें तो कुछ नहीं रहता। मेज़ हम ही हो जाते हैं!

इस मेरे कहने में कोई ज़्यादती आप न मानें। ठीक इस वक़्त भी लोग हैं जो मेज़ को एक-दूसरे से बिलकुल अलग अर्थों में लेते हैं। कारीगर की आँख उसकी कारीगरी पर है, मेज़-मालिक की आँख उसकी तात्कालिक उपयोगिता पर है और एक वैज्ञानिक की आँख मेज़ पर

होकर भी उन दोनों से कहीं अलग ही जगह है। मेज़ की बाज़ारू क़ीमत तय हो और एक हो; पर हरेक के लिए उसकी निजी क़ीमत एक नहीं है अलग-अलग है।

इस दृष्टि से तो यथार्थ और उसकी यथार्थता स्वयं ही सापेक्ष वस्तु हो जाती है। लेकिन यथार्थ को आपेक्षिक मानें तो यथार्थवाद शब्द ही मानो बेकार पड़ जाता है। यथार्थवादवाला यथार्थ तभी तक है, जब तक वह निश्चित है। पर निश्चित कुछ है नहीं। इससे यथार्थ भी कुछ है नहीं। अर्थात् हरेक यथार्थ ठीक उसी क्षण आदर्श भी है।

पर शंका होगी कि जिससे बचना चाहते थे, ऊपर के वाक्यों में कहीं उसी अथाह में तो हम नहीं गिर गए? पहले कहा था कि शब्दों को बहुत ऊँचे उठाकर हम नहीं देखेंगे। वह बात हमें याद रखना ज़रूरी है कि शब्दों के सत्य की मर्यादा को देखने के लिए शब्दातीत सत्य की पीठिका को एकदम ओझल न होने देना होगा।

इस तरह हम बेखटके यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण हो सकने वाला पदार्थ का रूप यथार्थ है। उससे आगे जो रह जाता है, वहाँ यथार्थ की गति नहीं, सो उसे आदर्श कहा जाता है। आदर्श संभाव्य वास्तविकता है।

इस भाव में शरीर यथार्थ और आत्मा आदर्श। इसलिए नहीं कि शरीर कुछ है, और आत्मा कुछ और है। यों तो शरीर और आत्मा में भेद हमेशा से माना जाकर भी कभी होने में नहीं आया। फिर भी शरीर को आत्मा-पूर्वक मानना होगा और आत्मा को साधने के लिए शरीर का भी स्वास्थ्य साधना होगा।

पर शरीर दीखता है, इससे शरीर है। आत्मा नहीं दीखता, इससे आत्मा है।

शरीर का विकास आत्मा की ओर है; क्योंकि शरीर की अपनी ही असली निजता का नाम आत्मा है।

शरीर द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा धर्म है।

आत्मा की अशरीरी प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यानी, जो तेज व्यवहार के तल पर भी तेजस्वी नहीं है, वह आत्म-तेज नहीं है।

और जो निरा शारीरिक है, उसमें शरीर की भी सफलता नहीं है।

इसी के अनुरूप यथार्थ और आदर्श में परस्पर सम्बन्ध हो सकता है और होना चाहिए।

यथार्थ जड़-स्वरूप है, यदि वह प्रतिक्षण आदर्शोन्मुख नहीं है।

आदर्श हवाई है यदि वह प्रतिक्षण यथार्थ को उभार नहीं दे रहा है।

यथार्थ अर्थात् प्राप्त। आदर्श अर्थात् अप्राप्य। प्राप्त में यदि कुछ अर्थ है तो तभी जबकि उस पर अप्राप्य का खिंचाव भी है। नहीं तो उसका आनन्द नष्ट हो जाता है। आनन्द स्वयं स्पन्दनशील तत्व है। वह गति की निरन्तरता में है। इससे आनन्द प्रयत्न में है, न कि फल में। और प्राप्त की उपयोगिता तभी तक है जब तक अप्राप्य की ओर प्रयत्न जारी है। वह प्रयत्न जितना ढीला है, प्राप्त का आनन्द भी उतना ही स्खलित है।

अर्थात् यथार्थ की यथार्थता आदर्श की ही परिभाषा में समझी जा सकती है। आदर्श की भूमिका यदि नहीं है तो समूचा यथार्थ माया-जाल हो जाता है। बेशक जगत् मिथ्या है, अगर वह ईश्वर (सत्य) के विमुख होकर प्रतीत होता है। और तब तो उसके त्याग में ही सत्य का लाभ है।

इस सिलसिले में हम यह भी देखें कि प्रत्येक प्राप्ति का प्रयत्न प्राप्त का त्याग है। बिना त्याग गति नहीं। पैर जहाँ हैं, आगे बढ़ने के लिए उस जगह को छोड़कर पैर को उठना ही होगा। अगर पैर अपने स्थान को पकड़ रहता है, तो वह निकम्मा है। कहना चाहिए कि वह पैर-पैर नहीं है। उसमें चलने की शक्ति नहीं रही। और उस पैर के स्वामी को अगर जीवित रहना है, तो उस पैर से उसे छुट्टी ले लेनी होगी।

भोग का यही मतलब है। उसमें हम प्राप्त से चिपटते हैं, और

त्याग से बचते हैं। पर गति है त्याग। और भोग है आराम। आराम को यदि इजाज़त है तो इसीलिए कि उससे गति की शक्ति बढ़े। अन्यथा आराम मौत है। त्याग द्वारा भोग को यदि भोगा जा सके तो ठीक। नहीं तो भोग विलास है। उसमें राग रुकता है और चेतना में गाँठ पड़ती है।

मैं सड़क पर जा रहा हूँ कि किनारे खड़ी मिली आठ मंज़िल की एक पर्वताकार बिल्डिंग। राम-राम, इतनी ऊँची, इतनी ठोस, कि क्या बताऊँ। एक-एक पत्थर है उसका शिला सरीखा। मेरे सिर के ऊपर वह बिल्डिंग ऐसी डटी खड़ी मालूम होती थी कि नीचे चलता हुआ मैं मानो कुछ हूँ ही नहीं। उसकी विशालता पर मन को कुछ हौल-सा लगा। जैसे मैं दबा जाता होऊँ।

यह यथार्थ की महत्ता है।

और अभी हाल यहाँ पुलिस-विभाग की ओर से एक भारी पहलवानों का दंगल कराया गया था। दूर-दूर के नामी पहलवान आए थे। शहर में से उनका वह ठाठ का जुलूस निकला कि क्या बात। बाज़ार में तब वे जहाँ-तहाँ दीख पड़ते थे। मानो साकार भीम हों। वह सीने, वह ज़बरदस्त भुज-दण्ड, वह डील और डौल कि देखिए तो देखते रह जाइए! महीन कुरते के भीतर से उनकी कसरती देह का वैभव मानो फूटा पड़ रहा था। एक-से-एक वह बाँका-तगड़ा जवान था कि तस्वीर के लायक़। यह भी यथार्थ महत्त्व है।

लेकिन सुनिए। उस क़िले-सी बिल्डिंग के मालिक हैं एक सेठ, जो देह में मुझसे कम हैं। अक़्ल में तो ज़रूर ही ज़्यादा होंगे; क्योंकि सेठ हैं। मालिक से नहीं जानता कि क्या मतलब लेना चाहिए। यों तो हाथ से वह एक ईंट नहीं उठा सकते। रोटी का कौर उठाते उनके हाथ काँपते हैं। फिर भी, मानो जादू से उस पहाड़-से दैत्य के भाग्य की कुन्जी उनके हाथ है। वह सेठ कुछ सनकी आदमी हैं। सनक पर लाखों उड़ा दिए हैं और उड़ा सकते हैं। सो आप समझिए कि वह लाखों टन

की पर्वत-सदृश कायावाली हवेली सेठ की सनक पर खड़ी है। उठे सनक, कि वह इस हाथ से उस हाथ ही नहीं हो सकती ; बल्कि एक-दम भूमिसात् हो सकती है ! उस सारी भीमकायता की कल है उस सनकी-से आदमी के सेठ होने और हो सकने में। यह है लाखों टन के ईंट-पत्थरवाले यथार्थ की यथार्थता। उससे भी आगे जायँ, तो उस यथार्थता में और भी विचित्र भेद निकलेंगे। कहीं बदल जाय विनिमय की दर, या मानो समाज की रचना और हमारे खयाल ही बदल जायँ तो हमारे सेठ का सेठपन भी एकदम ग़ायब हो जाय। और कारोबार सब चौपट दीखे। तब फिर क्या हो जायगा उस पथरीली हवेली का नसीब ? कौन जाने। यह है यथार्थ की महत्ता का सार।

और उन बड़े-बड़े पहलवानों की हक़ीक़त भी देखिये। चले आ रहे हैं, दूर से, ऐसे मस्त कि वाह ! जाने वही हों, शेष हो हेच। लेकिन पीछे मालूम हुआ कि दंगल में कइयों को तो एक ज़ीन की लँगोटी जंट साहब की धर्मपत्नी ने इनाम में दी थी और आने-जाने का ख़र्च भी मिला था। और हाल यह भी देखा गया कि साहब के बंगले का चपरासी दसियों पहलवानों को एक साथ इधर-से-उधर खदेड़ रहा था। लो यह उस दूसरे यथार्थ के महत्त्व की यथार्थता !

फिर भी यथार्थ को कोई कम न माने। आपमें से कोई उस पत्थर की बिल्डिंग के कोने से अपना सिर टकराकर या कि पहलवान से बद-कर देख सकता है। मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि आप में से किसी की उस मुक़ाबले में ख़ैर नहीं है। इससे उन दोनों की यथार्थता अपनी जगह पर होकर इस लेख की यथार्थता से कहीं बढ़कर है, यह असंदिग्ध सत्य है। उसे चुनौती देना संकट बुलाना होगा।

पर हम देख लें कि हरेक यथार्थ के व्यक्त रूप के भीतर कुछ और अव्यक्त यथार्थता निवास करती है। व्यक्त की हद है, अव्यक्त का पार नहीं। जहाँ तक हम जाते जायँ, उससे आगे भी जाने का अवकाश है। यथार्थ की यथार्थता में तह-पर-तह हैं। छीलते जाओ, छीलते जाओ,

और भी छीलते जाओ। थक तुम्हीं जाओ तो जाओ; यथार्थता एक कण की भी नहीं चुकेगी। अतः हद हममें ही है, यथार्थमात्र बेहद है।

इस तरह जो दीखता है, उसका भरोसा नहीं किया जा सकता। क्योंकि हम सब नहीं हैं। हमारी आँखें समूचेपन को देखकर ख़त्म नहीं कर सकतीं। फिर हमारे ही पास चाम की आँखें हैं, तो उसके आगे बुद्धि की आँखें भी हैं और मन की आँखें भी हैं। सब आँखों का यथार्थ अलग-अलग है। आँखों से स्थूल दीखता है; लेकिन मन सूक्ष्म भी अनुभव करता है। आँख पर अपना बोझ डालकर चलनेवाली बुद्धि मन के अनुभव को आदर्श कहकर अ-यथार्थ ठहराने की कोशिश कर सकती है। लेकिन हमने जान तो लिया कि यथार्थता की हद कहीं खिंची हुई नहीं है। साबित कर देने या साबित न कर सकने में ही सचाई का खात्मा नहीं है। झगड़ा अहंकार में ही सम्भव है। और जहाँ दो बुद्धियाँ झगड़ती हैं, वहाँ खेल अहंकार का है यह निश्चित मानना चाहिए। झगड़ा यथार्थ और आदर्श में नहीं है। असल में वह कहीं भी नहीं है। झगड़े का बीज सदा मन की खोट में है।

लेकिन प्रश्न होगा कि तो क्या सब झूठ सच है और सब सच झूठ? क्योंकि अगर यथार्थ के नाम पर यथार्थ हम किसी को कह ही न सकें और सब तरह का अ-यथार्थ (मिथ्यात्व) आदर्श के नाम पर चलने दिया जाय, तो क्या ऐसे कुछ भी काम चल सकता है?

बेशक, नहीं चल सकता। और काम को ज़रूर चलना चाहिए। काम के रुकने के हम पक्ष में नहीं हैं। लेकिन यथार्थ के सम्बन्ध में आग्रह छोड़ देने से सब काम रुकने की नौबत आ जानी चाहिए; यह हमारी समझ में नहीं आता। अगर मैं किसी दूसरे को ग़लत साबित करने का पेशा नहीं पकड़ूँ, तो इस तरह जगत्-कर्म में कौन-सी त्रुटि उपस्थित हो जायगी; यह मुझे स्पष्ट नहीं होता है।

हाँ, कुछ तो ज़रूर कमी होगी। वह यह कि बुद्धि-जीवी विद्वानों को (और बुद्धि से कौन रीता है!) अपने समर्थन और गर्व का मौक़ा

शायद उस तरह कुछ कम रह जायगा। लेकिन मैं तो समझता हूँ कि यह उपकार की ही बात होगी। काम का जहाँ तक मतलब है, वहाँ तो यह बड़े काम की बात होगी। बहस कम होगी; लेकिन इस तरह असल काम तो बढ़ेगा ही। विद्वान्-लोग विद्वत्ता के अलावा भी कुछ काम करने को तब खाली हो सकेंगे। विद्वान् के साथ तब वह मेहनती भी हो सकेंगे।

इसलिए अ-यथार्थ दीखने वाले सभी-कुछ को आदर्श शब्द के अन्तर्गत रहने देने की इजाज़त से और चाहे कुछ हो, कर्म की हानि तो हो नहीं सकेगी। और यदि उससे काम में गड़बड़ पड़ने की सम्भावना है भी तो तभी जब कोई दूसरे के आदर्श को अपने यथार्थ से नापेगा, और अपने आदर्श का आरोप दूसरे पर करना चाहेगा। सब अपनी बुद्धि के अधिकारी होने के कारण दूसरे की बुद्धि के अनधिकारी होंगे। इससे असंख्य यथार्थ और असंख्य आदर्श होने से भी बाधा नहीं होगी।

यह हमारे सामाजिक प्रश्नों के समाधान के लिए मूल दृष्टि होनी चाहिए। सबका स्वत्व अखंडित रहे। आतंक असम्भव हो जाय। धन का आतंक, बुद्धि का आतंक, पद का या शक्ति का आतंक। आतंक सब एक-से हैं। वे विकास को रोकते हैं। जब कोई अपनी बात दूसरे से मनवाना ही चाहता है तब मानो वह दूसरे की बुद्धि को आतंकित करना चाहता है।

'यथार्थ' और 'आदर्श' इन शब्दों का प्रयोग करके अपने पक्ष को पुष्ट और दूसरे पक्ष को हीन दिखलाने की कोशिश आतंकहीन नहीं कही जा सकती। वह विवेक की और विज्ञान की पद्धति नहीं है। वह मानसिक आतंकवाद की पद्धति है। प्रचारवाद आधुनिक आतंकवाद है।

पर प्रश्न हो सकता है कि आदर्श की क्या मर्यादा है? अज्ञेय और अप्राप्य कहकर क्या आदर्श अनाचार और अनिष्ट को भी सहारा नहीं दे सकता है?

यह प्रश्न आज बहुत महत्त्व-पूर्ण है। साध्य की लगन क्या साधन

को औचित्य दे सकती है? आदर्श के नाम पर क्या सब-कुछ किया जा सकता है? आदर्श विविध हो सकते हैं। घोष बदलते रहते हैं। वे घोष हमेशा अच्छी सम्भावना को लेकर बनते हैं। लेकिन क्या अच्छे घोष को लेकर उसके तले सब करने की छुट्टी मिल जाती है? क्या घोष काफ़ी समर्थन है, और व्यक्ति की नीयत सब कर्मों को उचित बना सकती है।

मेरा ख़याल है कि ठीक यही जगह है जहाँ नियम और नीति आवश्यक होकर आते हैं।

साध्य और आदर्श के बारे में तो बहस हो नहीं सकती। मुझे जहाँ से, जिससे, जैसे प्रेरणा मिले, वैसे लेने को मैं स्वतन्त्र ही नहीं हूँ, कर्तव्य से बाध्य भी हूँ। उसी के प्रति मुझ में आदर्श-भावना हो सकती है। उस पर दूसरे का या समाज का, कोई बन्धन नहीं। उस पर मैं चाहूँ तो ही विचार-विनिमय हो सकता है। मैं न चाहूँ तो किसी को उसमें दख़ल देने का सामर्थ्य नहीं है। इस तरह आदर्श सब ठीक मानने होंगे। बेशक उन पर कोई मर्यादा नहीं हो सकती। कल्पना पर कब कोई सीमा चढ़ाई जा सकी है? वैसा करना मनुष्य को पंगु बनाना होगा। यह तो ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य-भाव को चुनौती देना ही हो जायगा। यह अधर्म होगा। व्यक्ति किसी भी आकार को अथवा निराकार को पूज सकता है। किसी के मन की मूर्ति नहीं तोड़ी जा सकती। और कोई एक मूर्ति सब मनों में बलात् धँसाई नहीं जा सकती। वह प्रयास बचपन है।

लेकिन साध्य पर जब कि मैत्री-भाव से की गई चर्चा के अतिरिक्त और किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी का अवकाश नहीं है, तब साधनों के बारे में वह स्वतन्त्रता किंचित् भी नहीं है। यहाँ व्यक्ति व्यक्ति नहीं, वह समस्त का अंग और समाज का सदस्य हो आता है।

व्यक्ति जहाँ सामाजिकता को छूता है, वहीं उसके व्यक्ति-धर्म पर मर्यादा आ जाती है। व्यक्ति का कर्म-मात्र सामाजिक है। इसलिए

साधन का प्रश्न हमेशा ही विचारणीय बनता है।

हम असामाजिक नहीं हो सकते। किसी आदर्श के लिए भी नहीं हो सकते। इससे धर्म चाहे अनेक हों; पर समाज-धर्म (Morals) को सब पुष्ट ही कर सकते हैं। जो नीति (मोरल्स) को स्खलित करता है, वह धर्म नहीं है। फिर चाहे उसका कुछ भी नाम हो, उसका विरोध ज़रूरी है।

पर आज धार्मिक आदर्शों के मामले में इस मर्यादा को हम पहचान भी जाते हैं। लेकिन राजनीतिक आदर्शों को लेकर उन मर्यादाओं को भूल जाना हमारे लिए बहुत सहज हो गया है। स्वराज्य या देश-प्रेम या देश-रक्षा या दायित्व-रक्षा या जातीय विशिष्टता अथवा और इसी तरह के शब्दों को लेकर मानो हम मानव-समाज-धर्म की मर्यादाओं से छुट्टी पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

राजनीति में आज चारों तरफ़ क्या हो रहा है? इस देश में या परदेश में, आदमी और आदमी में क्या द्वेष-भावना को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है? मानो कि साध्य को जैसे बने साधना ही पुरुषार्थ है, शेष सब-कुछ व्यर्थ है। मुझे कहना है कि यह भयावह है!

और इस सबके लिए तर्क प्रस्तुत होता है कि आदर्श तो आदर्श है। लेकिन यथार्थ की अपनी कठिनाइयाँ हैं। हम समूचे विश्व में शान्ति चाहते हैं; आदमी और आदमी को भाई बना हुआ देखना चाहते हैं। लेकिन वर्तमान की यथार्थता को बिना देखे कैसे चला जा सकता है? आदर्श स्वर्ग से उतरकर नहीं आता न। सो हम जो हिंसा करते मालूम होते हैं, वह इसीलिए कि हमारा और तुम्हारा शान्ति का आदर्श एक रोज़ यथार्थ हो आए। हम कवियों की तरह स्वप्न से सन्तुष्ट नहीं हैं, हम यथार्थवादी हैं। इसलिए घृणा को, द्वेष को, हिंसा को भी हम इस्तेमाल करने से परहेज़ नहीं कर सकते। यथार्थ यथार्थ है। आदर्श आदर्श है। आदर्श में हम एक हैं। पर यथार्थ—भई, वह तो राजनीति की बातें हैं। इत्यादि।

तो मैं कहूँगा कि ऐसा कहने वाले अपने को छलते हैं। शब्दों से छल में सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। जो करो, खुलकर कर सकते हो। पर लाख छल से आदर्श और यथार्थ में, साध्य और साधन में, प्रतिकूलता नहीं डाल सकते। कर्म और फल में अन्तर नहीं है। कारण और कार्य में भेद नहीं है। जो बोओगे, वही उगेगा। कहने से नहीं; आम बोने से आम मिलेगा। और काँटे बोओगे, तो स्वप्न कुछ रक्खो, मिलेगा काँटा।

सो हमारे लिए यथार्थ ही आदर्श हो। आदर्श में ही हमारी प्रतिक्षण की यथार्थता हो। दोनों में विरोध जहाँ है, वहाँ धोखा है ही। दोनों का अन्तर हमारी सम्भावना और वेदना हो, और उस अन्तर को पाटने के लिए हमारा समूचा कर्म हो। अन्यथा तो शब्द हमारे लिए जाल हो जायगा। और हम उसके चक्कर में पड़कर आदर्श के सपने में चलते-चलते भ्रष्ट भाव से कहीं गड्ढे में मुँह के बल ही गिरेंगे।

आदर्श की तो असल में बात ही नहीं की जा सकती है। वह मन में बसा रखने के लिए है। वह कहीं समाप्त नहीं है। इसलिए आदर्श काल के अन्त से भी आगे है। पर जितनी आदर्शवाली नक्शेबन्दियाँ हैं, सब कल्पित हैं। हिन्दू का स्वर्ग, मुस्लिम का बहिश्त, साहित्यिक का नन्दन-कानन, समाजवादी का अपना नक्शा या और किसी मतानुयायी का अपना स्वप्न—सब ठीक है, जहाँ वह मन में उद्भावना जगाते हैं। आग्रह पर वही बन्धन हो जाते हैं। इससे आदर्श का उपयोग तो बहुत है। वह एकदम अनिवार्य है। लेकिन बातचीत और प्रचारवाला आदर्श अर्थात् काम का आदर्श यथार्थ से भिन्न नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से आदर्श का कोई वाद जो कि यथार्थ के किसी वाद से भिन्न है, नहीं हो सकता। और यथार्थ का वाद तो अपने में असम्भव ही है। सच यह है कि शब्द सब जायज़ हैं अगर उन पर वैज्ञानिकता का आग्रह न डालकर उन्हें केवल समझ-बूझ के लिए और हार्दिक

आदान-प्रदान के लिए व्यवहार में लाया जाय। रूढ़ बनाना शब्द का इष्ट नहीं है। और जब किसी शब्द में हृदय कम और रूढ़ प्रतिपादन अधिक ध्वनित होने लगे, तब उस शब्द की शक्ति विकृत हो जाती है। उस समय उससे सावधान रहने की आवश्यकता है।

आज के दिन यथार्थ और आदर्श इन शब्दों को लेकर हम अपनी सावधानता न खो दें। जाने कैसी-कैसी हवाएँ आ रही हैं और आयँगी। लेकिन वे हवा हैं। अखबारों और आन्दोलनों की लहर पर शब्द कुछ ऊँचे चढ़ेंगे, वे तारे बनकर उठेंगे। लेकिन लहर से डरना डूबना है। जिसे लहर में दिशा देखनी है, या उसे दिशा देनी है, वह शब्दों को चिह्न मानेगा, प्रतीक मानेगा। काम में उन्हें भी ले लेगा। पर असलियत को मानो समूचे जीवन के ज़ोर से अनुभव करने का वह यत्न करेगा। और क्या प्रचलित शब्दों के सहारे या क्या उनके बावजूद, वह उस असलियत के प्रति अपना ईमान क़ायम रखेगा।

क्रान्ति

क्रान्ति शब्द मनोरम है। पर वह मनोरमता क्या है? स्वर्ण-मृग भी मनोरम था और उसके पीछे भागने से राम की सुगति नहीं हुई! क्रान्ति के पीछे भागने में वही दुर्गति तो कहीं होने वाली नहीं है?

लेकिन राम, राम होकर माया-मृग के पीछे भागने से नहीं रह सके। तब क्रान्ति के पीछे दौड़ पड़ने से हम ही कैसे बच सकते हैं?

शायद यह ठीक है। मायावी ही चाहे वह हो; इस युग के हम क्रान्ति के आगे सो नहीं सकते।

पर राम की बात तो हम राम पर छोड़ें। अपनी बात हमको राम के नाम पर नहीं छोड़ देनी चाहिये। स्पर्द्धा यह नहीं कि हम राम से बढ़कर हो जायँगे; लेकिन कौन जानता है कि राम ने धोखा इसीलिए नहीं खाया कि पीछे आने वाले हम उससे सीख लेकर धोखा खाने से बचें!

इससे जो हो, क्रान्ति के पीछे भागने से पहले उसे समझने की धृष्टता हम कर सकते हैं। और अगर यह जायज़ हो तो मैं कहना चाहता हूँ कि मुझे उस शब्द की ध्वनि भली नहीं लगती है।

मुझे जानना चाहिये कि 'क्रान्ति' शब्द इस युग की भाषा को बहुत प्रिय है। वह चलता सिक्का है। "इन्कलाब ज़िन्दाबाद' का नारा हर कहीं सुन लीजिए। फिर भी झूठ नहीं कहना होगा, और सच

यह है कि वह शब्द मुझे भीतर से रोता हुआ मालूम होता है। थोड़े पानी में फूँक से जैसे बगूला बन जाता है, वैसे ही आवेश के जोर से भाषा की सतह पर ऐसे शब्द बन जाया करते हैं। आवेश है, तब तक वह शब्द भी गर्व से स्फीत होकर खड़ा है। पर आवेश नाम संकल्प का नहीं, जो टिकाऊ हो। इससे आवेश गिरा कि वह शब्द भी चपटा हो गिरता है और मालूम होता है कि उसका रूप मायामयी ही था, शेष अधिक उसमें न था। मुझे जान पड़ता है कि जो क्रान्ति करना चाहता है, वह क्या करना चाहता है इसको भली भाँति न जानने के कारण ही क्रान्ति करना चाहता है। वह अपनी ही बात का मतलब नहीं जानता। इससे उसकी बात क्रान्ति की होती है।

और अगर कहीं ऐसा नहीं है, क्रान्तिवाला जो कहीं अपना मतलब जानता है, तो फिर कहना होगा कि वह आदमी मतलबी भी है और अवसर-साधक है।

क्रान्तिवाले की आकांक्षाएँ अगर हवाई नहीं हैं, अगर वह सपनीला आदर्शवादी नहीं है तो 'क्रान्ति' शब्द के नीचे वह फिर अपने मन की साध पोस रहा है। तब वह सपनीले क्रान्तिवादी से गया-बीता है।

लेकिन आलोचना तजें। काम की बात करें। प्रश्न है कि क्रान्ति क्या? क्या वह की जाती है? और जब वह हो चुकती है, तब क्या होता है? क्या कोई ऐसा समय होगा जब क्रान्ति की आवश्यकता चुक जायगी? और अगर निरन्तर उसकी आवश्यकता रहेगी, अर्थात् कभी भी वह पूरी तरह हो न चुकेगी, तो क्या उस (तत्त्व) को क्रान्ति कहना मुनासिब भी होगा? क्या 'क्रान्ति' शब्द उतनी गम्भीर यथार्थता का बोझ सँभाल भी सकेगा?

क्रान्ति क्या?

वह परिवर्तन जिसका कार्य-कारण-भाव हमारी मन-बुद्धि में पूरी तरह नहीं समाता, जो इस कारण बृहत् और आकस्मिक मालूम होता है। उसको मात्र परिवर्तन संज्ञा देकर सन्तोष हमें नहीं हो पाता।

कोई बड़ा शब्द चाहिए जो वैसी घटना के प्रति हमारे मन के विस्मय और आतंक को अधिक व्यक्त कर सके। 'क्रान्ति' वैसा एक शब्द है। विप्लव, विध्वंस, इन्कलाब, उथल-पुथल, इत्यादि भी वैसे शब्द हैं।

किन्तु जहाँ कार्य है, वहाँ कारण है ही। अकारण कुछ हो नहीं सकता। वह कारण, हाँ, हमसे ओझल तो ज़रूर हो सकता ही है।

कारण की ओर से देखें तो कोई कार्य आकस्मिक नहीं है। तब न विस्मय की आवश्यकता है न आतंक की, ध्वंस तब असम्भव है। उथल-पुथल भी असम्भव है। सब मानो क्रमागत है। काल की अनवच्छिन्न धारा में सब कुछ घटना-रूप में पिरोया हुआ है। अतीत में से वर्तमान बना। वर्तमान में से भविष्य उगेगा। बीच में टूट कहीं नहीं है। अर्थात् जिसमें तोड़-फोड़ का भाव समा सके, वह स्थान भी कहीं नहीं है। पल-से-पल, मिनिट-से-मिनिट और युग-से-युग मिला है। बीच में कहीं दरार नहीं है, जहाँ अवकाश हो कि तोड़-फोड़ को रखा जा सके। जो टूटता मालूम होता है, असल में अपने टूटने के द्वारा वह कुछ और को बना रहा है। वही बन रहा है, टूटते हुए का टूटना तो दृष्टि के सीमित होने के कारण मालूम होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें और परिमित दर्शन के बन्धन से छूटें तो ऐसी कोई चीज़ इतिहास की गति में असम्भव हो जाती है जिसे क्रान्ति कहा जा सके। अगर काल का सूत कहीं कभी नहीं टूटता, अगर उसकी एक-एक कड़ी अटूट भाव से कार्य-कारण सम्बन्ध में जुड़ी है, तो बीच में कहाँ अवकाश है कि क्रान्ति आवे? इसलिए जो क्रान्ति चाहता है, मैं नहीं जानता कि असल में वह कुछ चाहता भी है।

क्या क्रान्ति की जाती है? और क्या वह की जानी चाहिये? थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि क्रान्ति होती है। वस्तुओं का मूल्य ऐसा पलट जाता है कि कुछ पूछिए नहीं। निगाह बदल जाती है और पहले पैमाने सब निकम्मे हो जाते हैं। बहुतेरा कुछ उलट गया मालूम होता है। ऐसे वक्त मन को भरने के लिए हम कहते हैं क्रान्ति हो

गई। अच्छा, मान लिया भाई, कि वह क्रान्ति हुई। आखिर तो निगाह हमारी एकांगी है। इसलिए यह दावा नहीं चल सकता कि हम सब घटनाओं के मूल कारण को पकड़ ही लेंगे और जब कारण पूरी तरह ज्ञान में नहीं है तो लाचार बनकर मान लेना होगा कि हाँ, यह तो क्रान्ति हुई।

भूकम्प आ जाता है। जहाँ मकान था, वहाँ गड्ढा हो बैठा, कुएँ की जगह बालू का ढेर खड़ा हो गया, नदी जहाँ थी, वहाँ सूखी धरती आ फैली और बंजर पड़ा था वहाँ पानी लहरा उठा। जैसे किसी ने सृष्टि के साथ खेल खेल डाला। देखकर हम कहते हैं कि यह तो विधाता का कोप फूटा है, भूकम्प नहीं तो इससे कम भला क्या है? आँखों के आगे होने वाले इस बेतुके परिवर्तन में कोई संगति जो हमें दिखाई नहीं देती, इससे मन भी उस पर चुपचाप आश्वस्त नहीं हो रहता। प्रकृति की ध्वंस-लीला ही हमें उसमें प्रतिभासित होती है।

हमको पूरा हक़ है कि भूचाल को हम प्रकृति की ओर से होने वाली क्रान्ति कहें। वह हक हमारा कोई छीन नहीं सकता। लेकिन अगर वैज्ञानिक शोध का प्रश्न आये, यथार्थता को ही यदि समझने और जानने की बात हो, तब वहाँ क्रान्ति को कृपा कर हमें दूर ही रखना चाहिये। वह शब्द काव्योचित है, हमारी मनोदशा की अपेक्षा में उसमें बहुत व्यंजना है। हृदय की अपेक्षा में देखें तो वह शब्द झूठ नहीं है। लेकिन विज्ञान में वह बिचारा मदद नहीं दे सकता। और जहाँ आवेग और आवेश की आवश्यकता नहीं है वहाँ इस शब्द की भी आवश्यकता नहीं है। क्रान्ति में मन की घबराहट की यथार्थता के अलावा और कोई वास्तव समझी जाने वाली यथार्थता नहीं है।

यहाँ भूल न हो। मैं उन लोगों में अपनी गिनती गिनाने की इच्छा रखता हूँ जो मन की सचाई के आगे हिमालय पहाड़ की वास्तविकता को शून्य मान सकते हैं। लेकिन इस जगह मैं-तुम की बात नहीं है। बात वैज्ञानिकता की है। और वैज्ञानिक के लिए क्रान्ति असत्

है; क्योंकि वैज्ञानिक अधीर नहीं हो सकता। मनुष्य अधीर होकर ही क्रान्ति को सचाई मानकर लुब्ध हो सकता है।

लेकिन पीछे हमने माना है कि हम परिमित-बुद्धि हैं। इसलिए हमारी भाषा के लिए क्रान्ति हो भी सकती है। पर जब सवाल उपस्थित हो कि क्या क्रान्ति की जाती है, और क्या वह की जा सकती है, तो मुझको मालूम होता है कि यह सवाल ही ग़लत है।

मूल सत्य में तो क्रान्ति कुछ है नहीं। मानव-भाषा में ही वह है। जब भाषा से बाहर वह और कहीं नहीं है, तब उसके किये जाने का सवाल भला कैसे हो सकता है? वह किसी तरह नहीं की जा सकती। अगर हो ही तो वह सही भर जा सकती है। जो उसे करना चाहते हैं, वे धोखा खाना चाहते हैं। वे बादल को मुट्ठी में पकड़कर पानी बरसाना चाहते हैं। वह बचपन करना चाहते है।

अगर क्रान्ति वह परिवर्तन है जिसका कारण खुलकर हमारी समझ में बैठता नहीं है तो स्पष्ट है कि वह क्रान्ति करने योग्य कभी भी नहीं हो सकती। जो तर्क से विगत है, वह उसी कारण विवेक से भी गई-बीती है और अकर्त्तव्य है। और जो तर्कातीत नहीं है, अतर्क्य नहीं है, उसके लिए 'क्रान्ति' शब्द का व्यवहार एकदम असंगत और असम्भव है।

अतः क्रान्ति नहीं की जा सकती। वह नहीं की जानी चाहिए। भाषा में और व्यवहार में उसे अधिक-से-अधिक सहा ही जा सकता है। उसका प्रचार अनिष्ट है। अगर कुछ इष्ट है तो यह कि उस शब्द का प्रयोग कवि-भाषा में ही किया जाय। अन्यथा वह कृपया अप्रयुक्त ही रहे। क्योंकि जितनी कम क्रान्ति हो, उतनी ही अधिक संगति जीवन में होगी, और परिणामतः उतनी ही अधिक उन्नति। क्रान्ति में बेबसी का भाव है, अनियमता और अव्यवस्था का भाव है। किन्तु जीवन नियमित और व्यवस्थित होना चाहिए। जो क्रान्ति चाहता है, वह संयम से बचना चाहता है। वह अपने से और अपने क़ाबू से

बचना चाहता है।

अकसर सोच उठता हूँ कि अगर मैं सचमुच क्रान्ति चाहता हूँ तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिसको मैंने क्रान्ति का परिणाम समझ रक्खा है, अर्थात् एक स्वर्ग-चित्र (Utopia), उसी को मैं चाह रहा हूँ और मुझको प्रतीति होती जा रही है कि क्रान्ति चाहने के अन्दर असल में किसी ऐसे ही मायावी स्वप्न की चाह दुबकी हुई होती है। प्रतीत होता है कि जो क्रान्ति चाहता है, वह जीवन का सामना करने से कुछ ऊबता जा रहा है। अपने तात्कालिक धर्म से वह बचाव चाहता है और उस सपने में रस लेना चाहता है। वह कुछ रोमांस माँगता है। हठात् वह अपने को बहला और बहकाना चाह रहा है कि क्रान्ति बस घटित हुई नहीं कि उसका सपना उसके हाथ आ जायगा। चलो, मुसीबत टलेगी। सच पूछो तो मुसीबत है जिसको वह टालना चाह रहा है।

पर सावधान रहें हम कि हमारे मन से बाहर स्वर्ग कहीं भी नहीं है। वह कभी कहीं से उतरकर हम तक नहीं आ जायगा। जब तक काल है, गति की आवश्यकता शेष है। परिवर्तन की आवश्यकता भी इसलिए कालान्त तक शेष रहेगी। मनुष्य है, तब तक उसे शान्ति कभी न मिलेगी। वह चैन चाहता है तो झूठ चाहता है। क्रान्तिवादी शायद अपनी मानी हुई क्रान्ति के बाद सुख-चैन छा जाने की आस रखता है। क्रान्ति के वाद के मूल में मानव-मन की यही प्रवञ्चना है। जैसे क्रान्ति हुई नहीं कि सब ठीक हो जायगा। इसलिए क्रान्तिवादी को चेतावनी देने की ज़रूरत है कि क्रान्ति के द्वारा और उसके पार वह शान्ति के सपनीले महल न खड़े करे।

इतिहास ऐसी चेतावनियों से भरा पड़ा है। युग-युग में और देश-देश में अनेक क्रान्तियाँ हुईं; लेकिन क्या वहाँ स्वर्ग उतरा? क्या परिणाम हुआ उनका जो क्रान्ति के सन्देशधारी थे? हरएक पूर्ववर्ती क्रान्ति-दल परवर्ती-दल द्वारा प्रतिक्रियावादी समझा गया। और उनके

हाथों नृशंस अत्याचारों का शिकार हुआ। यह सब हुआ क्रान्ति के नाम पर। पर स्वर्ग किसी पर नहीं उतरा। क्रान्ति की गई और जब वह की जा चुकी तो देखा गया कि वह केवल एक मोह थी। दूर था तब मोह हमें मोहता रहा। पास आया तो दीख गया कि वह थोथा है।

चाहवाली सारी क्रान्तियाँ थोथी हैं। क्योंकि चाह ही व्यर्थ है। वह सपने का पोषण है। वह संकल्प की द्योतक नहीं है। वह मानसिक विलास की परिचायक है।

न समझा जाय कि क्रान्ति को मैं भय बताता हूँ। क्रान्ति ऐसी नहीं है कि भय के कारण उसके आकर्षण में फँसा जाय; यही मैं क्रान्तिवादी को कहना चाहता हूँ।

अगर क्रान्ति है तो वह प्रतिक्षण हो रही है और कभी वह समाप्त नहीं होगी। युद्ध प्रतिक्षण हो रहा है, कभी वह समाप्त नहीं होगा। मौत में समाप्ति है और निर्वाण की बेहद चाह है तो हम इसी मिनट मर सकते हैं। लेकिन मौत में भी युद्ध-समाप्ति नहीं है। वह युद्ध तो चलता ही रहता है। जीवन द्वारा और मृत्यु द्वारा हम उस युद्ध को आगे बढ़ाते हैं। इस तरह प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रान्ति में हम मर-मरकर भी योग देते हैं और इसी भाँति जीने को सार्थकता से जीते हैं। लेकिन यहाँ आशा किस बात की। क्योंकि युद्ध अनन्त है और जब तक हमारी सत्ता है, तब तक हमारे लिए युद्ध में जूझते रहना ही है।

इस काल-परम्परा के विधान को क्रान्ति कहते हो तो दूसरी बात है। लेकिन मैं जानता हूँ कि 'क्रान्ति' शब्द उस शाश्वत-युद्ध-रूपी धर्म का आभास मन में जगाने के लिए बहुत अल्प है। वह उस अपेक्षा में बेहद ओछा और क्षुद्र मालूम होता है। उस शब्द को इस्तेमाल करनेवाले के मन की जड़ों में आकांक्षा दुबकी बैठी रह सकती है। वह शब्द उक्त विराट् अभिप्राय में काम नहीं आता। उतना अर्थ उसमें समा नहीं सकता। और साधारण रूप से जो मतलब उस शब्द में

भरा जाता है और ध्वनित होता है, वह परिमाण में ही तुच्छ नहीं है, बल्कि प्रकृति में भी अन्यथा है। वह आकांक्षा के विकार से विकृत है। उसमें रोमांस का सेवन है। उसमें संकल्प की दृढ़ता नहीं, अधीर आवेश की चमक है।

इसलिए 'क्रान्ति' शब्द मुझे नहीं भाता। न समझ लिया जाय कि मैं हटता हूँ। अभी पढ़ने को मिला कि मैं लेखक क्रान्तिकारी हूँ। अगर ऐसा हो तो लिखने वाले अपनी बात सँभालें। मैं तो यह जानता हूँ कि अगर मैं कहीं भी क्रान्ति चाहता हूँ और उस शब्द को काव्य की भाषा में ही प्रयोग नहीं करता हूँ, तो मैं गलती पर हूँ। कहीं मन में कमी है और उपयुक्त कर्म का अभाव है, तभी वैसी चाह मुझमें हो सकती है। और वह शुभ बात नहीं है। //

मुझे जानना चाहिए कि क्रान्ति नहीं चाहनी चाहिए। जहाँ तात्का-लिक-धर्म के प्रति जागरूकता है, वहाँ वैसी चाह की आवश्यकता से छुटकारा मिल जाता है। और अगर उस शब्द (क्रान्ति) में कोई इष्ट और विधायक अर्थ है तो उस अर्थ में स्वधर्म-पालन के सिद्धान्त से व्यक्ति की सच्ची क्रान्ति करने की क्षमता बढ़ जाती है। नहीं तो, चाहवाली क्रान्ति को अपनाने से आदमी खोखला ही बनता है। अगर तब उसमें से आवाज़ उग्र और अधिक निकलती है, तो शायद इसे भी खोखले-पन का ही लक्षण मानना चाहिए।

सिद्धान्त - सूत्र की मर्यादा

अभी उस दिन गोष्ठी में चर्चा करते हुए बात निकली कि साहित्य का इष्ट क्या है ? परिणाम में सूत्र प्राप्त हुआ 'अखण्ड मानवता'।

असल में उस इष्ट को हम और भी सूत्रों में कह सकते हैं। ऐसे सब सिद्धान्त-सूत्रों में भिन्नता होगी। पर समानता भी होगी इस अर्थ में कि सभी उपादेय होंगे, सब में ही हित का भाव होगा। किसी में वह हित व्यक्ति, किसी में समाज और तीसरे किसी में राष्ट्र इत्यादि संज्ञा से जुड़ा हो सकता है। 'मानवता' भी एक वैसी ही संज्ञा है और साहित्य के इष्ट को 'अखण्ड मानवता' के रूप में मानने में कोई बाधा नहीं है। लेकिन परिभाषा में उस इष्ट को रखने की आवश्यकता जीवन में गति-साधन की दृष्टि से ही है। इसलिए उन सिद्धान्त-सूत्रों को पकड़े रहने की आवश्यकता नहीं है, न उनका आपस में टकराना उचित होगा। व्यक्ति-हित की भाषा में इस इष्ट को बताने वाली परिभाषा को समाज के वाद के आग्रह में अनिष्ट नहीं मानना होगा, न व्यक्ति की मुक्ति के पीछे समाज-मंगल चाहने वाली परिभाषा को ही बहिष्कृत करना होगा। असल में विवाद वादाग्रह से उत्पन्न होता है और गतिरोध उपस्थित करता है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि साहित्य के इष्ट को हम क्या परिभाषा देकर स्वीकार करते हैं, बल्कि असल महत्त्व की बात यह रहती है कि हम उस परिभाषा का जीवन के साथ समीकरण किस अंश

में और किस समीचीनता के साथ साधते हैं।

ऊपर के ही सूत्र को लीजिए। वहाँ 'अखण्ड मानवता' को साहित्य का लक्ष्य ठहराया है। देखने में उसका भाव काफी व्यापक है। लेकिन 'मानवता' शब्द स्वयं में सत्य को सीमित और खण्डित ही करता है। 'अखण्ड मानवता' पद से लग आता है कि मानवता को अपने से इतर तत्त्व के प्रति अखण्डता सिद्ध करनी नहीं है, अपने भीतर रहकर ही मानो वह अखण्डता साधी जा सकेगी। मानव के आगे भी अनन्त प्रकृति है। इसके पार होकर जो है, वह भी सत्य है। उस सबसे अपने को खण्डित करके क्या मानवता अखण्ड हो सकेगी? स्पष्ट ही शेष प्रकृति से छिन्न होकर, अपने को अपने में सृष्टि का मूर्धन्य और सत्य को अपनी परिधि में निश्चित मान बैठकर मानवता कृतार्थ न हो सकेगी। इस भाँति 'अखण्ड मानवता' को निरपेक्ष और अन्तिम रूप से साहित्य का इष्ट मान लेना खतरे से खाली नहीं रह जाता। दूसरे सब सिद्धान्तों और परिभाषाओं का भी यही हाल मानना चाहिए। चलने के लिए वे हमारे हाथ की बैसाखी हैं। वे सहारा देने को हैं। सचमुच अपने में वे साध्य या सत्य नहीं हैं। और, जैसे भक्त अपनी मूर्ति के सहारे अपनी भक्ति को निष्पन्न करता और मुक्ति-पथ को प्रशस्त करता है—उन मूर्तियों की विभिन्नता भक्ति के फल में बाधक नहीं होती—वैसे ही परिभाषाओं की विविधता साहित्य-साधना की फल-प्राप्ति में अवरोधक नहीं होती। मुख्य बात बैसाखी की लम्बाई और ऊँचाई नहीं है, वह तो यह है कि हाथ में होकर वह तुम्हें काम देती है। और जहाँ काम न दे, वहाँ तुम उसे फेंक कर दूसरी लकड़ी लेने के लिए तैयार हो। अर्थात् महत्त्व की बात यह है कि हम जानते रहें कि सिद्धान्त-सूत्र बुद्धि की थिरता के लिए भाषा के टेकनमात्र हैं और अपने-आप में उनका मूल्य अधिक नहीं है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक सैद्धान्तिक परिभाषा में दो तट होते हैं। केवल एक परिमाण (Dimension) की सत्ता कोई

नहीं हो सकती। न कोई अध्यात्म समाज-निरपेक्ष हो सकता है, न कोई समाज आत्महीन। आत्म की स्थिति जगत् की सम्भावना बिना सम्भव नहीं। आत्म की भाषा में ध्येय आध्यात्मिक और जगत् की परिभाषा में वह सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक है। कोई सजीवता इन दोनों में से किसी तट से हीन नहीं हो सकती। उस नदी में पानी ही नहीं, जिसमें दो किनारे नहीं। अगर नदी सूखी नहीं है, बहती हुई है, तो उसमें किनारे भी दो हैं और जितना उन किनारों में अन्तर है, नदी उतनी ही बड़ी है। तटों का अन्तर बीच में नदी पाकर सुन्दर और सार्थक हो उठता है। जीवन का मेरी दृष्टि में यही चित्र है; महाप्राण व्यक्तियों में उत्कट विरोधों का समाहार दीखेगा। सच्चा आध्यात्मिक पुरुष विश्व-कल्याणार्थ जीता हुआ प्रतीत होगा, यद्यपि वह विश्व की सत्ता को शून्यवत् कहेगा। अपनी ओर से उसकी समस्त चेष्टा मुक्ति की दिशा में होकर भी वह अनायास विश्व-वन्दनीय बन उठेगा।

आजकल तो जैसे समाजवाद और आत्मवाद आपस में ३६ के अंक बन गए हैं। वादों में अक्सर ही ऐसा होता है। किन्तु वादों में विवाद हो, आत्म में और समाज में वैसी विमुखता नहीं है। उनमें तो अभेद है। वाद का विकार ही है, जो उनमें भेद दिखाता है। अन्यथा तो वे दो तट हैं, जिनके बीच होकर जीवन साधना को प्रवाहित होना है।

इस पर से यह परिणाम निकलता है कि आध्यात्मिक कविता का हक यह नहीं है कि वह उपयोगी और स्पष्ट न हो। स्वभाव से ही यह असम्भव है। वह छायावाद, जिसको धूमिल और समाज-निरपेक्ष होना पड़ता है, आध्यात्मिक भी न होगा। और वह प्रगतिवाद, जो हथौड़े की तरह ठोस और मज़बूत होगा कि दर्शन और तर्क से अतीत किसी रहस्यानुभूति के स्पन्दन का उसमें अवकाश न हो, ऐसा प्रगतिवाद भी सामाजिक कैसे ठहरेगा ?

इस दृष्टि से वन-कन्दरा में बन्द कठोर व्रती और मेज़ पर मुक्का फटकारते हुए कर्कश-कृति में बहुत अन्तर नहीं है। दोनों में न कोई

आध्यात्मिक है, न सामाजिक दोनों विज्ञ के निकट एक से अर्ह-ग्रस्त हैं।

भाषा मनुष्य की तरह अपूर्ण ही है। वह कृतार्थ वहाँ है, जहाँ बस संकेत करती है। वह सत्य को साग्रह देती नहीं, केवल साभार लेना चाहती है। जो भाषा में आ जाय, वह सत्य भी क्या? सत्य के तो स्पर्श की अभिलाषा में भाषा स्फुरित होती है। अर्थात् भाषा सत्य को जीवन नहीं देती, सत्य ही भाषा को जीवित रखता है। सत्य के स्पर्श से शब्द अपने ही अर्थ से बहुत अधिक कह जाता है। उस सत्य से स्फूर्ति न लेकर भाषा में उसके लेनदेन करने वाले को रस से रीते पात्र पर ही रुक गया मानना चाहिए। भाषा में सामर्थ्य नहीं कि वह पूर्ण हो। इससे उस भाषा से बने सिद्धान्त-सूत्र कभी आत्म की ओर उठते तो कभी जगत् की ओर झुकते मालूम होते हैं। अन्तःशुद्धि, आत्ममुक्ति, स्वान्तःसुख, आत्मसंस्कार आदि शब्दावली में वे सूत्र साहित्य के इष्ट को प्रकट करते हैं, तो कभी लोकहित, सौन्दर्यालेखन राष्ट्रमुक्ति इत्यादि पदों के रूप में वे सूत्र सामने आते हैं। स्पष्ट ही ये सब इङ्गित द्वारा ही सत्य का आभास देते हैं। विभिन्न रुचि और प्रकृति वालों को विभिन्न शब्दों में अनुकूलता प्रतीत हो सकती है। स्वयं मैं यह अनुभव करता हूँ कि पहली कोटि के आत्मवाची शब्द अधिक वैज्ञानिक हैं। वे अधिक स्थायी और मूलभाव की ओर जाते हैं। फिर भी दूसरी कोटि के शब्दों के शब्दों से उनका वैसे ही विरोध नहीं है, जैसे सिक्के की सामने की मूरत का अपनी पीठ पर के अक्षरों से विरोध नहीं है।

उदाहरण के निमित्त ऊपर आए सूत्र 'अखण्ड-मानवता' को ही लीजिए; सहसा उससे इस पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ फैली हुई मानव-जाति का बोध होता है। वह मानवता आपस में कटी-छँटी है। वह देश, जाति, वर्ण, भाषा, संस्कृति, स्वार्थ आदि हेतुओं से नाना भागों और स्तरों में खण्डित है। उसी में अखण्डता लानी होगी, सामान्यतया यह भाव हमें उस सूत्र में से प्राप्त होता है।

लेकिन मानवता का स्थायी प्रतीक, व्यक्ति स्वयं अपने भीतर

खण्डित हो रहा है। नाना प्रकार के द्वन्द्व उसके आत्मतेज और आत्मैक्य को प्रतिक्षण कुतरते रहते हैं। वह अपने ही भीतर छिन्न-भिन्न, खण्डित और त्रस्त है। उस व्यक्ति को हमें अखण्डता प्रदान करनी है, विवेचक इस भाव में उस सूत्र के तथ्य को ग्रहण कर सकता है।

मुझसे पूछिए तो यह दूसरा अर्थ ही मुझे उस सूत्र का मर्मार्थ मालूम होता है। क्योंकि ब्रह्मांड की चिन्ता पिंड पर है ही कहाँ? वह उस चिंता के नीचे स्वयं अभिभूत होकर अधर्म में ही प्रवृत्त हो सकता है। स्वधर्म के आचरण के लिए उसके पास अपना स्वत्व जो है। वहाँ अखंड होने की साधना में कौन जानता है कि समूचे विश्व की अखंडता सम्पन्न करने में भी व्यक्ति यथार्थ योग नहीं देता होगा, और मेरे विचार में साहित्य राजकारण से इसी जगह पृथक् है कि राजकारण दुनियाँ की व्यवस्था और विधान को सँभालकर व्यक्ति को सुखी करना चाहता है, तब साहित्य व्यक्ति की चेतना को संस्कृत और सुघटित करके विश्व की सुव्यवस्था में योग देता है।

इस प्रकार प्रत्येक सिद्धान्त-सूत्र को हम आत्मापेक्षी (Subjective) झुकाव में ग्रहण कर सकते हैं, अथवा उसी को पदार्थ-विषयक (Objective) उपयोगिता की ओर झुका सकते हैं। हर हालत में हर भाव और कर्म में दो तट विद्यमान रहेंगे ही। एक ओर यदि आत्म-चेतना है, तो दूसरी ओर भूत-पदार्थ भी है। बुद्धि अपने आश्रय और अपनी प्रगति के लिए दोनों में पृथकता स्थापित करती हो, पर प्रगति दोनों के परस्परानुयोग में ही सम्भव है और एक तट की हानि दूसरे तट का लाभ नहीं है।

अन्त में मेरी प्रतीति है कि विचार और सिद्धान्त-सूत्रों की सीधी संगति सृजन से नहीं है और सारे वादों के प्रति साहित्य एक-सा निस्संग रह सकता है। सब तरह के सिद्धान्त उसमें ऐसे ही पनप सकते हैं, जैसे पृथ्वी के वक्ष पर नाना रूप-गंध-वर्ण के फल-फूल।

श्रमण और हरण-संस्कृति

समय चलता रहता है और चीज़ें बदलती रहती हैं। हर घड़ी कुछ न-कुछ होता है। यानी जीवन गतिशील है और जगत् परिणमनशील। सागर की तरह सम्पूर्ण संसार तरंगमय है, स्थिर कहीं कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड स्पन्दनशील है।

किन्तु अपनी ही गति पर अधिकार रखने और विवेक करने के लिए हमने दो शब्द बनाए हैं:—अवनति और उन्नति। गति जो नीचे की ओर है, अनिष्ट है। वह विकास में सहायक नहीं। वह अवरोध और असामन्जस्य पैदा करती है। दूसरी जो इष्ट है, सामंजस्य-पूर्ण है। उसे प्रगति और उन्नति कह सकते हैं।

राजनैतिक इतिहास मानव-जाति की हलचलों को आँकता और प्रकट करता है। हलचल अपने-आप में सार्थक नहीं होती। जरूरी है कि वह प्रगति की दिशा में हो और उधर हमें बढ़ावे। इससे राजनैतिक हलचलों को जाँचने के लिए फिर एक मान की आवश्यकता है। वह मान है संस्कृति। प्रगति की परख के मूल-मान (Values) सांस्कृतिक है।

पर 'संस्कृति' शब्द में भी झमेला है। उसके साथ तरह-तरह के विशेषण लगे हैं। प्राच्य-पाश्चात्य, आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुस्लिम, वैज्ञानिक-आध्यात्मिक, एतद्देशीय और इतरदेशीय। इन विशेषणों से उलझन पैदा होती है। कभी-कभी 'संस्कृतियाँ' आपस में झगड़ती और

टकराती भी दीखती हैं। पर संस्कृति जब तक संस्कृति है, फिर कोई विशेषण उसके साथ हो, टक्कर में नहीं आयगी। अपने नाम के प्रति सच्ची रहकर वह सदा समन्वय साध लेगी। सामञ्जस्य खोज लेगी, जिन में टक्कर हो वे चीज़ें संस्कृति ही नहीं। संस्कृति का विरोध केवल विकृति से है। इस तरह पूर्व में और पश्चिम में, आर्य-जाति और इतर जाति में, हिन्दू में और मुस्लिम में, विज्ञान और अध्यात्म में जो तत्त्व संस्कारी हैं, वे आपस में टकरा नहीं सकते। फिर भी यदि टक्कर है और क्लेश है तो विकृति के कारण है और विकृतियों में ही है। अन्यथा तो रूप और आकार-प्रकार के भेद से अन्तरङ्ग में भेद पड़ना जरूरी नहीं है। संस्कृति तो है ही वह जो भेद से अभेद और अनेकता से एकता की ओर चलती है। अपने को दूसरे में और दूसरे को अपने में देखने की साधना संस्कारिता है। संस्कारिता सब देश और काल में एकार्थवाची है। शब्द ही हैं जो उसके लिए भिन्न-भिन्न इस्तेमाल हो सकते और होते हैं।

संस्कृति इस तरह मानव-जाति की वह रचना है, जो एक को दूसरे के मेल में लाकर उनमें सौहार्द की भावना पैदा करती है। वह जोड़ती और मिलाती है। उसका परिणाम व्यक्ति में आत्मोपमता की भावना का विकास और समाज का सर्वोदय है।

इसके विपरीत जो फोड़ती और फाड़ती है, विकृति है। उसमें अपनी-अपनी निजता पर इतना ज़ोर होता है कि समग्रता का ध्यान नहीं रहता। नतीजा यह कि हरेक अपनी निजता की रक्षार्थ दूसरे की निजता को खण्डित करता है। उसमें बराबरी और बढ़ाबढ़ी रहती है। दूसरे से खुद को बढ़-चढ़ कर मानने और दिखाने की वृत्ति उसमें गर्भित रहती है। समता के वह विरुद्ध है और ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भेद उसमें तीव्र होता जाता है। अहंकार में उसकी नींव है। अहंकार ज़रूरी तौर पर वह चीज़ है, जिसको संघर्ष में और मुक़ाबिले में तृप्ति है। अभिमान को स्वाद दूसरे के अपमान में मिलता है।

संस्कृति और विकृति को अन्दर की ओर से इस तरह आसानी से परखा जा सकता है। संस्कृति की आत्मा एक है। नाम-रूप चाहे अनेक हों। विकृति भी भीतर से एक समान है। नाम-रूप उसके भी अनेक हो सकते हैं। संस्कृति है अहिंसा। विकृति की शर्त है हिंसा।

शब्द अपेक्षा पैदा किया करते हैं। उनको सूचक रूप में जो हम नहीं लेते। शब्दों को ही यथार्थ मान बैठते हैं। परिणाम यह कि वे आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। सत्य भाव में है और इस तरह वह हृदय में है। शब्द में वह थोड़े ही है। शब्द में सचाई वहीं तक है जहाँ तक उसमें हृदय और भावना की सचाई है। अन्यथा तो शब्द विग्रह और कलह के काम आते हैं। तभी तो असत्य अधिक सशब्द और मुखर होता है। मिथ्या के आग्रह के आगे सत्य तो मूक हो रहता है। इस तरह आवेश और आग्रह से शब्दों को इतना ठोस और कठोर बना दिया जाता है कि वे आपस में टकरा कर चिनगारी उत्पन्न करने लगते हैं। 'वादों' में अक्सर भाषा के साथ यही बीतता है। वहाँ शब्दों को धार और किनार दे दी जाती है। उससे उनकी मृदुता, आपस में घुल-मिल जाने, फिर रहने की उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वाद से इसीलिए विवाद उपजता है। प्रत्येक मतवाद एक ऐसे सम्प्रदाय को जन्म देता है, जो दूसरे मतवादियों से लोहा लेने को उद्यत हो। ऐसे साम्प्रदायिकता बनती और मज़बूत होती है। ये दायरे अपने-आप में बन्द और सँकरे पड़कर औरों के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं और जीवन के प्रवाह और विकास में अवरोधक बनते हैं।

अहिंसा की बौद्धिक संज्ञा है 'अनेकांत'। अर्थात् समस्त भाषा सापेक्ष है। कथन सब अमुक अपेक्षा से ही सत्य है। पूर्ण सत्य कोई नहीं है। इस पद्धति से कोई मत अपने-आप में सत्य का ठेका नहीं रखता। प्रत्येक मत की मान्यता आपेक्षिक, सापेक्ष और सहिष्णु हो जाती है। संस्कृति की इस तरह पहली शर्त है, मत मात्र के प्रति सहानुभूति और

समभाव। उसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं, व्यक्ति मात्र के प्रति प्रीति और सद्‌भाव। पहले में अहिंसा का बौद्धिक पर्याय है, तो दूसरे में हार्दिक। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिशील होने में अनायास ही मत के प्रति सहिष्णु होना समा जाता है। विचारों के प्रति जिसमें कट्टरता है, व्यक्तियों के प्रति भी उसमें अधिकांश राग-द्वेष ही रहता है।

अब अहिंसा कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त होकर अहिंसा स्वयं एक मतवाद हो जाती है। अहिंसा का वादी दूसरे और वादियों से विशेष भिन्न नहीं रहता। तब अहिंसा एक गिरोह के लिए नारा बन रहती है। यहाँ तक हो सकता है कि हिंसा के निमित्त ही अहिंसा का जयघोष किया जाय। किन्तु संस्कृति को शब्द से नहीं, सार से काम है। इसी से हमें अहिंसा के उच्चार से अधिक आचार की ओर ध्यान देना होगा।

आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नहीं है। उसमें दल हैं, पक्ष हैं और विषमता है। आपसी सम्बन्ध कुछ ऐसे आधार पर बने हैं कि स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है। एक की हानि में दूसरे का लाभ है, और एक पक्ष उभरता है तो तभी जब कि दूसरा दबता है। इन सम्बन्धों के आधार पर जो समाज का ढाँचा आज खड़ा है, उसमें हम देखते हैं कि प्राणशक्ति का बहुत नाश और अपव्यय होता है, अधिकांश आदमियों की सम्भावनाएँ व्यर्थ जाती हैं। एक सफल होता है तो अनेकों को असफल बना कर। इस तरह उस एक की सफलता स्वयं व्यंग्य हो रहती है। ऐसी समाज-व्यवस्था में जो सभ्यता, संस्कृति और संस्कारिता फलती है, वह मानव-जाति को बड़ी मँहगी पड़ती है। इसी में सन्देह है कि वह वास्तव में संस्कारिता होती है। निस्सन्देह आज सुघराई की कमी नहीं है। नफासत की एक-से-एक बढ़कर चीज़ें लीजिये। शबनम के वस्त्र। सपने हारे, ऐसी फैंसी चीजें, सुख-विलास के अनेक आविष्कार। आमोद-प्रमोद के अगणित प्रकार।

कहाँ तक गिनिएगा ! कला-कौशल का भी कम विकास नहीं है। किताबें बहुत हैं और अखबार बहुत हैं और सिनेमा बहुत हैं। इस प्रकार शालीनता और शिष्टता और आभिजात्य के वैभव के आज वैपुल्य है। बड़े शहरों की फैंसी सोसायटी में जाने से पता चलेगा कि रुचि किस बारीकी और रंगीनी और ऊँचाई तक पहुँची है।

लेकिन क्या उससे सन्तोष हो? ड्राइंग-रूम की भव्यता मनोहर और सुखद हो सकती है, लेकिन उस रूम से बाहर अगर गन्दगी और सड़ाँद फैली हो तो ड्राइंग-रूम का सुख कितने दिन का और किस काम का? क्या भला उसमें कोई बन्द हो सकता भी है, या उसमें भूला रह सकता है? और जो रह सकता है क्या वह व्यक्ति ईर्ष्या के योग्य है?

समग्रता की दृष्टि से विचार करते हैं तो कुछ ऐसा ही भाव मन में उठता है। उन मुट्ठी-भर लोगों की सुघराई, जो चारों ओर के अभाव और दरिद्रता के बीच में भी अपने लिए भोग और विलास की सामग्री जुटा लेते हैं, क्या बहुत अभिनन्दन की चीज़ है? क्या हम मान लें कि वैसी सुघराई में मानवता की सिद्धि है? नहीं, यह मान लेना कठिन होता है। मन कहता है कि सब चमक-दमक और रौनक के बावजूद इस सब सम्भ्रान्त शिष्टता में असलियत उतनी नहीं है। ऊपर से जो सुन्दर है, भीतर से वही शान्त नहीं है। सौंदर्य वह आवेश का है और आनन्द-प्रमोद भी वह मुक्त नहीं है। मन तक उस आनन्द का उल्लास नहीं पहुँचा है। न शिष्टाचार की मिठास ही भीतर तक पहुँची हुई दिखाई देती है। व्यवहार की वह शालीनता स्वार्थ पर दबाव पड़ने पर सहज ही जवाब दे जाती है। तब जो अत्यन्त सम्भ्रान्त प्रतीत होता था, उसी में भीतर की कर्कशता और परुषता दिखाई दे जाती है।

और इसका कारण है। हरेक के पास कुछ अपना स्वत्व है। वह स्वत्व पुष्ट और सुरक्षित है, तब तक व्यक्ति अनायास सज्जन है। लेकिन आज की समाज-व्यवस्था में जैसे हरेक को अपने स्वत्व के बारे में हर घड़ी चौकन्ना रहना होता है कि कोई उस पर हाथ न डाले। वह अपने

स्वत्व को चारों ओर से हवा में खुला नहीं रख सकता। उसे सुरक्षा की तरह-तरह की प्राचीरें देनी होती हैं। तब कहीं वह अपने स्वत्व को लेकर स्वस्थ हो पाता है। अदालत और पुलिस, जेल और कानून, इस तरह शान्ति और न्याय की अनेकानेक संस्थाएँ अपने चारों ओर खड़ी करके उनके घेरे के भीतर वह अपने स्वत्व का प्रदर्शन और उपभोग कर पाता है। इतने पर भी उसके मन की शंका जैसे उनसे दूर नहीं होती है। उसके अपने एक स्वत्व के कारण जो अनेक स्वत्वहीन होकर समाज में बिखर रहे हैं, उनका खतरा मानो उसे सशंक ही रखता है। इस तरह उसके उल्लास में भी संशय का और विलास में व्यथा का मिश्रण रहता है। वह समाज जहाँ प्रत्येक के स्वत्व में आपस में विग्रह है, विरोध और स्पर्द्धा है, वहाँ मनुष्यत्व का भाव समृद्ध कैसे हो सकता है? और जहाँ पर प्रत्येक का स्वत्व सर्वस्व की समृद्धि में योगदान नहीं करता, वहाँ संस्कृति का सामर्थ्य और स्थिरता कहाँ? जानना चाहिए कि यह एक इमारत है, जो बेबुनियाद है, इसलिए कभी भी ढह सकती है। उस इमारत में ईंट-से-ईंट जुड़ी हुई नहीं है। इसलिए कौन जानता है कि कब वे ईंटें आपस में बज न उठेंगी।

आखिर आगे तो महायुद्ध होकर चुका है। उसका उपसंहार अब और रहा है। कल बीज से दूसरा नहीं होता। इससे उपसंहार युद्ध-संहार के अनुकूल हो तो क्या असम्भव? पर मानने की इच्छा है, और उसके कारण भी हैं, कि मानव-जाति का अब एक जन्म, एक युग बीता। अब नव-जन्म होगा। एक नये युग का आविर्भाव होगा नई आशाएँ और नया संकल्प लेकर। जीर्ण की चिता में से हम नूतन का निर्माण करेंगे और उसका दिन कल नहीं, आज है।

आज हमको भविष्य के लिए समाज की बुनियाद देनी है। वह बुनियाद कि जो अचल और अडिग हो। उस पर ऐसी समाज-रचना खड़ी करनी है कि जिसमें हर व्यक्ति का स्वत्व समाज के सर्वस्व को पुष्ट करे। हरेक की विजय परस्पर अनुकूल हो। हरेक की शक्ति हरेक को

समृद्ध बनाने में लगे। किसी एक की भी शक्ति का उपयोग दूसरे को व्यर्थ करने में न हो पावे। होड़ाहोड़ में मानव-प्राणों का दुरुपयोग न हो। सहयोग और साहचर्य में जुटकर उस चैतन्य-शक्ति का अधिकाधिक सदुपयोग और सुफल हो। वह अहिंसक समाज-रचना होगी। इसमें कोई रंक न होगा, इससे राजा भी न होगा। दीन न होगा, इससे दानी की भी आवश्यकता न होगी।

पर वह काम अहिंसा के मन्त्रोच्चार से नहीं हो जानेवाला। मुँह पर नहीं, अहिंसा को कर्म में लाना होगा। तब इससे अहिंसक संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसक को मैं कहूँगा श्रमण संस्कृति। श्रमण अर्थात् श्रम पर आधार रखने वाली। श्रमण नहीं, वह हरण है। जो श्रम पर आधार नहीं रखती है, वह जरूर फिर हरण पर आधार रखती है। उसमें श्रम स्वयं किया नहीं जाता, अन्य के श्रम का हरण किया जाता है। हरण के आधार पर जो संस्कृति खड़ी होगी, वह निश्चय ही अपाहिज है। वह तो दूसरे के कन्धे पर बैठकर चलती है। दूसरे ने अपना कन्धा देना और झुकाना बन्द किया कि बेचारी कहीं की न रह जायगी। तब वह मुँह के बल आ रहेगी। उससे और कुछ करते न बनेगा। बेशक दूसरे का कन्धा बैठने को, या दूसरे का श्रम अपने उपभोग को मिलते रहने से आराम तो खूब हो जाता है। हमारे पैर तब धरती को छूते भी नहीं हैं और हम ऊँचे हो जाते हैं। पावों को जो चलना नहीं पड़ता, इससे बुद्धि अच्छी चलती है। आसानी से दिमाग आस्मानी ऊँचाइयों की ओर उठता है। उससे स्वभाव में प्रभुता जागती और शील का भी उदय होता है। तब बारीक ख्याली भी आती है और कल्पना आदर्श की ओर उड़ान ले सकती है। पर यह भी है कि ये सुभीते छन में छिन सकते हैं और सपने धूल में आ मिल सकते हैं। देर नीचे वाले को यह पहचानने की है कि ऊपर वाले की तरह वह भी आदमी है।

आदमी और प्राणियों की तरह नहीं है। पक्षियों के पङ्ख हैं और

वे उड़ते हैं। पशुओं को भी प्रकृति ने तरह-तरह की सुविधाएँ दे दी हैं। बनैले जानवरों के बदन में कस है, नख और दन्त हैं, कि शिकार आसानी से कर लें। या नहीं तो सींग और खुर और पूँछ हैं। किसी को कुछ पहनने की ज़रूरत नहीं है। पैदा होने के साथ ही लगभग हर पशु स्वाधीन है। पशु का अवसर है कि वह अपने ही को माने और अपने ही लिए जीए। मनुष्य की वह हालत नहीं है। एक तरह से वह हीनतर प्राणी है। बदन में उसके उतना दम नहीं। पैने नाखून और दाँत नहीं। न सींग और पूँछ। न खाल इतनी मोटी और रूँएदार कि सर्दी-गर्मी सह ले। वह बना ही ऐसा है कि केवल अपने बस पर और अपने ही लिए नहीं रह सकता। अनायास उसको खाना नहीं मिल जाता। प्रकृति से ज्यों-का-त्यों भोजन पा लेने का उसे सुभीता नहीं है। इस सबके लिए उसे श्रम करना पड़ता है। यह श्रम फिर सम्मिलित रूप में होना ज़रूरी है। एक अकेले का श्रम कुछ उत्पादन नहीं कर सकता। आदमी के लिए जैसे श्रम अनिवार्य है, वैसे श्रम का भी सहयोग अनिवार्य है। अन्यथा इन्सान का जीवन असम्भव है। प्रकृति की ओर से मिली हुई इस लाचारी में से इन्सान में बुद्धि और विवेक का जन्म हुआ। इस तरह से इन्सान जंगली नहीं रहा, सामाजिक बना।

जंगल में हरेक की स्वतन्त्रता सम्पूर्ण है। हरेक को हक है कि वह हर दूसरे को फाड़ खाय। वहाँ एक के निकट उसका अपनापन ही सत्य है। परस्परता का वहाँ उदय ही नहीं है। 'जीवो जीवस्य भोजनम्'—यही वहाँ की सचाई है। पर आदमी अपने साथ दूसरे की निजता को भी पहचानने के लिए लाचार है। 'पर' में 'स्व' बुद्धि रखने के अभ्यास के लिए वह विवश है। यहीं से अहिंसा का आरम्भ है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अहिंसा के लिए श्रम अनिवार्य है। प्रकृति अपने को आदमी के समक्ष उपस्थित करके स्वयं छूट जाती है। पर प्रकृति की देन ज्यों-की-त्यों आदमी के उपयोग में नहीं आती। अन्न को बटोरना, सुखाना, कूटना, पीसना आदि होता है। आगे और अनेक

उपचार हैं। तब कहीं प्रकृति का अन्न मनुष्य का खाद्य बनता है। इसी तरह कपास को कपड़े के रूप में लाने तक तरह-तरह के उद्यम उस कपास के साथ आदमी को करने पड़ते हैं। अर्थात् आदमी के उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु सम्मिलित श्रम का फल है। यह सम्मिलितता यदि अखण्ड और स्थिर रहनी है तो जरूरी है कि समाज का कोई सदस्य अपने हिस्से के आवश्यक श्रम से बचे नहीं। जो श्रम से स्वयं बचता है, वह दूसरे शब्दों में अपने हिस्से का श्रम दूसरे के सिर पर लादता है। श्रम से बचने की इच्छा ही इस तरह समाज में विषमता और शोषण का बीज बोती है। वहीं से हिंसा कीटाणु का प्रवेश मानिए। अहिंसा की चरितार्थता इस तरह स्पष्ट ही है स्वेच्छित श्रम में। दूसरे के प्रति सहानुभूति की कमी होगी तभी हम स्वयं श्रम से बचना चाहेंगे। मन दूसरे के लिए प्रीति से भरा होगा तब श्रम से अरुचि तो हमें होगी ही नहीं। उलटे लगन होगी कि हम से जितना श्रम बन सके अच्छा। सबके श्रम का फल सबको मिले तो इसमें शंका नहीं कि किसी को किसी तरह की कमी न रहे। कठिनाई एक ओर तो यह होती है कि सब श्रम नहीं करते। दूसरी ओर से यह कि उसका फल हिसाब से नहीं बँटता। यही क्यों, यथार्थता तो यहाँ तक है कि जो श्रम करते हैं, फल उन्हीं को नहीं के बराबर मिलता है। और जो अपेक्षाकृत श्रम नहीं ही करते हैं, उन्हें इतना अधिक मिलता है कि श्रम करना फिर उनके और उनकी संतति के लिए असम्भव हो जाता है। तब श्रम करने की जगह श्रम कराना ही उन्हें अपना हक और पेशा जान पड़ता है। ऐसे समाज की सम्मिलितता भङ्ग होकर उसमें श्रेणी और दल पड़ जाते हैं। एक दल जो सिर्फ़ सिर और कन्धे झुका कर मेहनत करना जानता और उसी को अपना भाग्य मानता है। जो टुकड़ा उसके आगे डाल दिया जाय उसी पर वह पेट पालता है। यह वर्ग धीरे-धीरे पालतू चौपायों की हालत तक पहुँचता जाता है। दूसरी तरफ़ वह दल जो दूसरे की मेहनत के बल पर सिर्फ़ फ़ुरसत में जीता है। खाली दिमाग़ में, कहते हैं, शैतान

बसता है इस वर्ग के पास रचनात्मक कुछ न रहने से खाली दिमाग के सब व्यवसाय इसे लग जाते हैं।

इन्हीं में फटी-फटी समाज तरह-तरह के कुचक्रों का शिकार बनी रहती है। श्रम और पूँजी के विग्रह का प्रश्न सदा वहाँ उपस्थित रहता है। कारण, सिक्का श्रम से अलग होने पर पूँजी बन जाता है और पूँजी फिर फुरसत वाले लोगों का अस्त्र बन जाती है। असल में तो श्रम ही धन है। श्रम के फल के विनिमय और वितरण के सुभीते के लिए सिक्का बना है। पर सिक्का जमा करके रखा जा सकता है। वह बिगड़ता नहीं, गलता नहीं। जीवन के उपभोग में आने वाली चीज़ों का यह हाल नहीं है। एक परिमाण और समय के आगे उन्हें नहीं रखा जा सकता। वे पदार्थ छीजते और क्षय होते हैं। इसलिए सिक्के के संग्रह का लोभ उत्पन्न हुआ और वह अपने-आप में धन बनने लगा। आगे जाकर तो सिक्के और श्रम में जैसे वैर हो गया। अधिकार-प्राप्त इन्हीं चर लोगों के हाथ में सिक्के की टकसाल हो गई और फैली हुई जनता के हाथ में कोरा श्रम रह गया। बीच में कुछ दुरबहुओं की जमात बन खड़ी हुई, जो श्रम को ले-लेकर पूँजी के हाथों बेचने का काम करने लगी। ऐसे श्रम बिकना और चुकना आरम्भ हो गया। जहाँ श्रम क्रय और विक्रय की चीज़ हुई, वहाँ ही मानो श्रम से बचना, यानी फुरसत (Liesure), जीवन का परम इष्ट हो गई। खरीदने वाला सस्ते-से-सस्ता श्रम को खरीदना चाहने लगा, और वह वर्ग, जिसके पास श्रम था और उसके सिवाय कुछ न था, बेमन और बेबस भाव से उस श्रम को बाज़ार-भाव बेचने के लिए लाचार हुआ। साफ़ है कि श्रमिक वर्ग की निगाह श्रम पर नहीं, फुरसत पर है, जैसे कि और सब की है।

यह हालत अच्छी कैसे कही जा सकती है। निश्चय ही बिन मेहनत आदमी नहीं चल सकता, और नहीं जी सकता। यह उसकी विवशता नहीं, कृतार्थता है। यहीं पुरुषार्थ का धर्म आता है। इसी में से मानव की सिद्धि है। मानव में मानवता का विकास पुरुषार्थ को

किनारा देकर चलने की कोशिश से नहीं सिद्ध होगा। श्रमहीन होकर मनुष्य कर्महीन और नीतिहीन भी हो जायगा। लेकिन फिर भी हम देखते हैं कि उद्यम को नहीं, फुरसत को लक्ष्य समझा जाता है। जहाँ फुरसत अपने-आप में लक्ष्य हो वहाँ संस्कृति नहीं, स्वार्थ ही पनप सकता है।

श्रमण संस्कृति में इससे उलटे श्रम ही सार है। वही असल धन है। पूँजी श्रम के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। श्रम ही वहाँ असल मूल्य (Value) है। सिक्का उसका प्रतीक भर है। इसलिए श्रमण-दर्शन (सम्यक् दर्शन) में सच्चा धनिक वह है, जिसके पास सहानुभूतिशील हृदय और स्वस्थ शरीर है। वही सच्चा धार्मिक है। कारण, स्नेह-भाव से वह स्वेच्छित श्रम करता है। ऐसा व्यक्ति अकिंचन है, कारण उसे जोड़ने की आकांक्षा और आवश्यकता नहीं है, वह सदा भरपूर है। वह अपरिग्रही है, क्योंकि वह अपने सम्बन्ध में और भविष्य के सम्बन्ध में भी निश्शंक है। उसमें चिन्ता और संशय की रिक्तता नहीं है कि उस गढ़े को भरने के लिए वह परिग्रह बटोरे।

विलायती एक शब्द है प्रॉलीतारियत (Porlitariat) उसका तात्पर्य कुछ ऐसा ही है। जिस वर्ग के पास उसका श्रम ही सब कुछ है। वह है प्रॉलीतारियत। लेकिन श्रमण को उससे बढ़कर मानना चाहिए। श्रमण में स्नेह अतिरिक्त है। सर्वाहारा में अपने बारे में अभाव का भाव हो सकता है। अपनी अवस्था पर उसमें आक्रोश और शिकायत हो सकती है। पूँजीपतियों के लिए द्वेष और घृणा उसमें हो सकती है। श्रमण में इन सब प्रतिक्रियात्मक भावों के लिए अवकाश नहीं। जिनकी स्नेह की पूँजी लुट गई है और शरीर और मन का स्वास्थ्य भी जिन्होंने खो दिया है, ऐसे पूँजीपति वर्ग के लिए श्रमण के मन में करुणा है। जिनके पास द्रव्य का सञ्चय और परिग्रह का संग्रह है, श्रमण जानता है कि उनके पास आत्म-श्रद्धा का दिवाला है। उनके मन के स्नेह को संशय और [illegible] ने खा डाला है। इस तरह वे प्राणी वास्तव में दीन और

दयनीय हैं। वे रुग्ण हैं और इलाज के पात्र हैं। रोगी पर रोष नहीं करना होगा, सेवा से उनका इलाज होगा। उन्हें समाप्त यदि नहीं करना है, स्वस्थ करना है तो यह काम स्नेह से हीन होकर कैसे किया जा सकेगा। रोग के साथ जिसमें रोगी का नाश होता हो वह चिकित्सा-शास्त्र अधूरा है और मिथ्या है। नाश की इच्छा में ईर्ष्या का बीज है। धनिक की ईर्ष्या के नीचे धन की चाह दुबकी माननी चाहिए। इसलिए श्रमण पूँजीपति के द्रव्य को और साज-सामान की अनावश्यक अतिशयता को छीनना नहीं चाहता, बल्कि जड़ पदार्थ के उस भार से उस व्यक्ति को मुक्त देखना चाहता है। यहाँ भाषा का अन्तर न माना जाय, वृत्ति का ही अन्तर है। यानी श्रमण पूँजीपति-वर्ग को ऊपर के (सरकार के, कानून के, शक्ति के) दबाव से नहीं, बल्कि भीतर की (अन्तःकरण की, आत्म-जागरण की, स्नेह-प्रसार की) प्रेरणा से उसके रोग से उत्तीर्ण और स्वस्थ करना चाहेगा। धन छिनने से व्यक्ति में से धन की लालसा नहीं छिनती। लोभ और संग्रह-वृत्ति का बीज उसमें मौजूद रहता ही है और वक्त पाते ही फल उठ सकता है। हृदय-परिवर्तन न हो तब तक कानून का घेरा-पहरा रहने पर भी व्यक्ति की असामाजिक वृत्तियों का खतरा बना ही रहता है।

समाजवाद भी समाज की इस विषमता का इलाज सुझाता है। वह इलाज गणित का है। वह चौकस है और उसमें चूक निकालना मुश्किल है। क्या अच्छा था कि जीवन गणित के वस हो सकता! पर वैसा होता नहीं। कभी हुआ नहीं, कभी हो पायेगा भी नहीं। कारण, मनुष्य पदार्थ नहीं है, वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी नहीं है। वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी अनिष्ट है। हार्स पावर (Horse-Power) का १/१० आदमी नहीं है। आदमी को यदि हम वैसा बना दे सकें तो हिसाब की सचमुच बहुत सुविधा हो जाय। लेकिन शुभ संयोग की बात है कि हिसाब को

वैसा सुभीता देना मनुष्य के वश का नहीं है। उस अपने हृदय को बाद देकर वह जी ही नहीं सकता जिसकी गहराई में स्नेह का वास है। अतः वह सहयोग, प्रेम और सेवा के बिना भी रह नहीं सकता। अपनी अन्तःप्रकृति से वह इस बारे में विवश है। लौटकर पशु बनना उसके लिए सम्भव नहीं। हिल-मिलकर वह रहेगा, फूलेगा और फलेगा। बीच में कलह भी हो लेगी और लड़ाईयाँ भी हो बीतेंगी। उनको पार करता हुआ वह अपने हेल-मेल को बढ़ाता ही जायगा। उसका अन्तस्थ प्रेम शत्रुता से परास्त न होगा। वह हारेगा नहीं और वैर की या युद्ध की सब बाधाओं को पार करके ही छोड़ेगा। वह चला चलेगा, बढ़ा चलेगा। यहाँ तक कि मनुष्य-जाति एक होगी और सब उसके लिए भाई-भाई होंगे।

यह सपना सुलभ सबको है, पर श्रमण के लिए तो यह उसका व्रत भी है। उसको सामने रखकर वह अपना पग डिगायेगा नहीं। किसी तात्कालिक लाभ के लिए अपना व्रत वह भङ्ग नहीं करेगा। मानव-जाति के भविष्य को कीमत में देकर कोई सुभीता अपने लिए वह नहीं जुटाएगा। राजनैतिक लाभ के लिए संस्कृति की हानि नहीं होने देगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसे शब्दों के लिए अहिंसा के ध्रुव को वह नहीं खोयेगा।

श्रम और उसके फल के विभाजन का सवाल आज का प्रमुख सवाल है। सवाल का हल अहिंसक यानी श्रमण संस्कृति यों सुझायेगी: 'श्रम तुम्हारा धर्म है, फल में आसक्ति क्यों ?'

आज की समस्या विकट बनी हुई ही इस कारण है कि श्रम कोई नहीं चाहता, फल सब चाहते हैं। मेहनत नहीं, सब आराम चाहते हैं। लेकिन श्रमण फल की जगह श्रम को ही चाहेगा। वह आराम से बचेगा और मेहनत को हाथ में लेगा। वह सब कुछ जो भोग है उसके लिए त्याज्य होगा; क्योंकि भोग में श्रम-शक्ति का क्षय है। तप (स्वेच्छित) श्रम (अपने हिस्से लेकर) भोग (फलोपभोग) श्रमण दूसरे के

लिए छोड़ देगा। ऐसे ही आराम सब वह दूसरे के लिए मानेगा। उस आराम को अपने श्रम से पर-निमित्त जुटा देना ही वह अपना दायित्व जिम्मे समझेगा।

गीता में यज्ञ को धर्म कहा है। बाइबिल की भाषा में इसी को 'क्रास' कहते हैं। उस धर्म को श्रम के स्वेच्छिक स्वीकार के आधार पर ही आज चरितार्थ किया जा सकता है। अन्यथा तो हमारे जीवन की नींव में हरण और हिंसा और अधर्म का रहना अनिवार्य ही है, फिर चाहे उस भवन का ऊपरी भाग कितना भी रम्य, आकर्षक और सुहावना क्यों न हो। ऊपर की मनोरमता से लुभा कर उस भवन में हम चैन से बैठे रहेंगे तो अपने को धोखा ही देंगे।

संस्कृति का अहिंसक आरम्भ और निर्माण ही सम्भव है। अहिंसा से जहाँ च्युति है, वहाँ विकृति है। अहिंसक जीवन, अर्थात् सश्रम जीवन, अर्थात् फलभोग की ओर से निराग्रही जीवन। श्रमण-धर्म इसी जीवनादर्श को सामने रखता है और उसी में से मनुष्यता को त्राण मिल सकता है।

शान्ति-मूर्ति महावीर

अहिंसा को सबसे परम धर्म मानकर चलने वाले जैन-धर्म के प्रेरक पुरुष महावीर हैं। उन्हें उसका प्रवर्तक भी कहा जा सकता है। वह गौतम बुद्ध के समकालीन हैं, बल्कि कुछ वर्ष पहले हुए हैं। किन्तु जैसे बुद्ध बौद्ध-मत के प्रवर्तक थे उस अर्थ में जैन-मत महावीर को अपना आदि पुरुष नहीं, वरन् चौबीसवाँ तीर्थंकर स्वीकार करता है, यानी वह मत किसी विशेष समय किसी विशेष व्यक्ति द्वारा बनाया और चलाया गया हो, ऐसी उसकी मान्यता नहीं है; बल्कि वह तो जीवन-धर्म है और अनादि से चला आता है। तीर्थंकर तो उसे अपने जीवन में सिद्ध और प्रगट करते हैं। एक कल्प में ऐसे तीर्थंकर चौबीस होते हैं और उनके पहले कुलकर होते हैं। जैन-मत ने काल के क्रम को एक शृंखला के रूप में देखा है। एक बार वह ऊपर से नीचे आता है वह अव-सर्पिणी और नीचे से फिर उत्कर्ष की ओर जाता है वह उत्सर्पिणी कहलाता है। काल के इस एक कल्प में जैसे मनुष्य की आत्मा की इस छोर से उस छोर तक विकास-यात्रा सम्पन्न होती है, मानो एक संस्कृति के आदि और अन्त का वह चित्र है।

जैन-धर्म इस तरह अपने को जीवन-धर्म मानता है। वह विनय का धर्म है, आचार-व्यवहार का और जीवन के उत्कर्ष-साधन का धर्म है। यह सृष्टि कैसे और कहाँ से—जैसे इस प्रश्न को उसने पीठ दे दी

है और उस उलझन में पड़ने से अपने को बचा लिया है। कह दिया है सृष्टि तो अनादि है। उसके कर्ता का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल यह है कि यह सृष्टि जो दुख और उलझन से भरी है, जिसका रूप भव-बाधा है; उससे निस्तार कैसे मिले ? संसार बन्धन है, उसमें से जीव मोक्ष कैसे पाए ?

मोक्ष के उस सनातन प्रश्न के उत्तर को तीर्थंकरों ने अपनी अखण्ड-साधना से खोजा और पाया। आत्मा से परमात्मा हुए। जैन-मत में जीवात्मा से अलग परमात्मा कोई नहीं है। अपनी शुद्ध-बुद्ध मुक्तावस्था में हर आत्मा परमात्मा है। अगर हम आपस में अनेक हैं और सब अपनी अलग आत्मा अनुभव करते हैं तो कोई कारण नहीं कि अपने शुद्ध सिद्ध और चिद्रूप में भी वह अनेकता न रहे। परमात्मा को एक होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे कर्त्ता नहीं होना है, अधीश्वर नहीं होना है। चिन्मय आत्मा स्वयं अपने स्वयं भाव को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा में विकास-उत्कर्ष पाती चली जायगी। वह अनिवार्यता मानव-चेतना में गर्भित है, अलग से उसके लिए किसी नियम अथवा नियन्ता की आवश्यकता नहीं है। वह अपनी आत्म-साधना से परमावस्था को और परम-मुक्ति को प्राप्त करेगी।

इस तरह जैन-धर्म दार्शनिक जिज्ञासा से अधिक जीवन की उत्कर्ष चेष्टा में से प्राप्त हुआ कहा जा सकता है और उसका तत्त्व-विधान इस लिए काफ़ी साफ़ सूत्रबद्ध हो सका है। यद्यपि पीछे जाकर उलझनें उसमें भी खड़ी हुईं, लेकिन वे भेद-प्रभेद की थीं अधिकांश अंक-सम्बन्धी थीं, मत-सम्बन्धी उतनी नहीं थीं।

तीर्थंकरों ने घोर साधना का तपश्चरण किया और आत्म को पाया तब उन्होंने कहा—कि आत्म ही स्व है शेष पर है। यह जो हमारे समक्ष होने का पसारा फैला है, यह जो सारा संसार है, जीव और अजीव के मेल से बना है। जीव चित् तत्त्व है। अजीव अनात्म है, जड़ है पुद्गल रूप है। उसी के सम्पर्क से जीव नाना अधोगतियों में परि-

भ्रमण करता और दुःख उठाता है। वही कलुष और कल्मष का हेतु है, मुक्ति उसी के संग-दोष से मुक्ति है। आत्म की साधना में इस अनात्म परिहार के लिए नाना प्रयत्न-प्रक्रियाओं का विधान हुआ, उन सबका लक्ष्य था कि पुद्गल का स्पर्श छूटे। प्रतिक्षण नाना कर्म-वर्गणाओं का आश्रव हो रहा है, उनका सम्वर करना होगा। संचित पौद्गलिक कर्मों की निर्जरा करनी होगी। ऐसे ही कर्म-बन्ध कटेगा और निजानन्दावस्था प्राप्त होगी। जगत् में नहीं, बल्कि जगत् के विराग में से जागतिक समस्याओं का निदान और समाधान प्राप्त करना होगा। यह श्रद्धा केवल भारतीय मनीषी की ही नहीं रही है; बल्कि दूसरे देश के साधकों में भी यह लक्षण देखे जाते हैं। ईशु के प्रभु का राज्य उनका नहीं है जिनके पास संसार की प्रभुता है। वह तो केवल उनका है जिनके पास यहाँ का कुछ नहीं है।

जीवनोत्कर्ष की नीति खोजने की यह प्रणाली सहसा उलटी लग सकती है। लग सकता है कि यह तो जीवन से मुँह मोड़ना है, पलायन है। इसमें जीवन का घात है। ऐसे सीधी देखने वाली दृष्टि भोग से डरना नहीं चाहती। आगे बढ़कर वह सबको ले लेने के लिए तत्पर और आगत ही होने को तैयार है। वह जगत् से मोक्ष क्यों ढूँढ़े? वह जगत् को ही ले लेगी। भोग लेगी, और उस से इधर-उधर देखने को भीरुता और कायरता मानेगी। इस दृष्टि में से नाना कर्म-चेष्टाओं को जन्म मिल रहा है और जगत् निरन्तर कर्म-कोलाहल से भरा रहता है। यह दृष्टि शक्ति चाहती है, लोक-मत के संगठन में से मिलने वाली सामुदायिक शक्ति का एकान्त नहीं, यह जन-सम्पर्क खोजती है। इस शक्ति-निर्माण में से वह जन-कल्याण साधना चाहती है। राज्य में एक बड़े समुदाय की कर्म-चेष्टाओं के सूत्र एकत्रित होते हैं, इसलिए राज्य-सत्ता को हाथ में लेकर अनेकों का अनेक प्रकार का भला किया जा सकता है। साधु को रक्षा की जा सकती है। असाधु का दलन किया जा सकता है। सदाचार के और शान्ति के दुश्मनों का नाश किया जा

सकता है। ऐसे आचार का उत्कर्ष साधा जा सकता और उसको निष्पन्न किया जा सकता है।

इस दृष्टि को चाहे सांसारिक कहा जाय लेकिन उस कारण उसे गलत कहना जल्दी करना होगा। निश्चय ही उस के पीछे लगन है। और बहुत से विचक्षण पुरुष अपना योग दे रहे हैं। अवश्य ही शान्ति की आवश्यकता है और उस आवश्यकता के बारे में वे लोग सच्चे हैं, सक्रिय हैं। शान्ति के लिए ही युद्ध की बात करते हैं, अन्यथा वह उन्हें प्रिय नहीं है। हिंसक की ही हिंसा करना चाहते हैं। अन्यथा अहिंसा को आदर्श वे भी मानते हैं। उनकी केवल कठिनाई यह है कि वे जिम्मेदार लोग हैं और अपने तात्कालिक और सामाजिक दायित्व से अलग जाकर नहीं रह सकते। उन्हें जूझना है और जूझते रहना है। सिर्फ सिद्धान्त के तो वे बन नहीं सकते क्योंकि वे अकेले नहीं हैं, बहुत का बोझ लेकर वे सबके साथ हैं। छोड़-छाड़कर जनता की तरफ से वे कैसे भाग दें? यह मुश्किल है।

यह मुश्किल महावीर के लिए न हुई होगी, यह नहीं कहा जा सकता। वे राजपुत्र जन्मे, उनमें भी प्रश्न रहे होंगे पर उनके समाधान भी होगा। देखते होंगे कि बल से, पद से, सत्ता से बहुतों का भला किया जा सकता है, बहुत-कुछ उपकार का काम किया जा सकता है। यह सब छोड़ना मोह की बाधा के कारण ही मुश्किल न होगा, नैतिक कर्तव्य विचार की भी बाधा रही होगी। अनेकानेक तात्कालिक कर्तव्य हमको जकड़े रहते हैं। बन्धु-बान्धवों, माता-पिता के प्रति कर्तव्य अनिष्ट और अनीतिमूलक नहीं समझे जाते, बल्कि उचित ही समझे जाते हैं। उन सब कर्तव्यों के बोध में युवावस्था के महावीर की हम कल्पना कर सकते हैं। निश्चय वे मर्यादाशील व्यक्ति रहे होंगे। कुल-गर्व उनमें न होगा, मनमाना व्यवहार उनका न रहा होगा। अहंकारी और प्रमादी होने की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक सब कर्तव्यों का निर्वाह अचूक भाव से वे करते रहे होंगे। फिर भी अनिवार्य हुआ कि

उन्होंने घर छोड़, राज छोड़ा, सब छोड़ा कि अपने को पाया। छोड़ने में जिसको छोड़ा उसके प्रति अविनय नहीं था। शायद अस्वीकृति भी नहीं थी। सिर्फ अपने को पहले पर लेने की मजबूरी थी। इसलिए जब वह घर से गए तो सबके प्रति स्नेह से भरे रहे होंगे। सब की आत्मीयता अपने में अनुभव करते रहे होंगे, ऐसे सब की क्षमा और सब के लिए असीस उनके साथ होगी। फिर भी उन्हें जाना हुआ तो इसलिए कि कुछ के बने रहकर उन्हें शान्ति न थी। निरपवाद सब के समष्टि भर के बने बिना उन्हें चैन न था। चीज़ अपने पास रखकर हम वह चीज़ ही दूसरे को दे सकते या बाँट सकते हैं। ऐसे अपने को देने से हम बच जाते हैं। सच में अपने आपे को दिया जा सकता है। वही सब को मिलता है और मिलाता है बाकी देना अन्तराय रचता है और दूसरों से अपने को अलग रखने में सहायता करता है। यह व्यथा ही थी जो उन्हें त्रास दे रही थी कि कैसे अपने को अशेष भाव से दे डालें। जगत् को कुछ नेतृत्व देने, शिक्षा देने, संगठन देने की स्पर्द्धा उनमें नहीं जग सकी। सहानुभूति की व्यथा ने उनमें और भाव आने न दिया। मालूम हुआ कि भीतर तक अपने में निस्व होकर सब के अन्तरंग में घुल-मिल जाए बिना उन्हें त्राण नहीं है, मुक्ति नहीं है।

यह प्रेम की व्यथा ऊपर से निर्मम ही दीख सकती है। उसमें छोड़ना और तपना दीख सकता है; क्योंकि उसके भीतर की आनन्द की उपलब्धि सहज गोचर नहीं होती और इसका उपाय अपने सत्व-विसर्जन के सिवाय दूसरा है भी नहीं। परिचित से अपरिचित, ज्ञात से अज्ञात और जन से निर्जन की ओर उनका प्रयाण हुआ। जैसे सत्व मात्र छोड़कर सब के सद्भाव पर उन्होंने अपने को डाल दिया। एक वही अवलम्ब रखा, शेष में वह नितान्त निरवलम्ब ही रहे। कृपा की भीख ही उन्हें भोजन हुई, सब का स्नेह ही उन्हें भोग हुआ।

यह दुर्धर्ष साधना थी। अनेकानेक उपसर्ग आये। उनका बाह्य रूप जिनका रोम-हर्ष वर्णन शास्त्रों में मिलता है। रूपक-भर है। वह ही

स्थूल है बाहरी है। क्या-क्या यातनाएँ उन्हें नहीं दी गईं। कल्पना थर्रा जाय ऐसे कष्ट विरोधियों की ओर से उन्हें मिले, पर वे कष्ट कष्ट न थे। हमें उनका वर्णन कँपा देता है, पर आप में अखण्ड-निष्ठ साधक वर्धमान के लिए कोई प्रश्न उपस्थित न करते थे। काया को पहुँचाया गया कष्ट तो कष्ट न था, जैसे वह इष्ट था, पर साधना असल यह थी कि प्रहार के उत्तर में शरीर से लाल लहू न निकले मानो धवल दुग्ध निकले। साँस में से आह की जगह असीस निकले और अभियोग की जगह अभिनन्दन।

महावीर के तपश्चरण का काल ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। वैर और शत्रुता की उन्हें खबर मिली कि वह आतुर हो आये। सुनते ही अपने को वैरी और शत्रु मानने वाले उस व्यक्ति की तरफ खिंचे-से चल पड़े। ऐसे सब शत्रु जीत लिए गए सो नहीं, पर महावीर अवश्य जिन बन गए क्योंकि उन्होंने शत्रुता को जीत लिया। उस वैर का, विग्रह का अंकुर तक उनकी मनोभूमि में से जड़ से उखड़ रहा। यह उनकी आत्म-साधना तत्त्व-साधना न थी, प्रेम-साधना थी। तत्त्व-साधना के पीछे अहं-विलास भी छिपा रह सकता है। अहिंसा के प्रति सजगता की अणु भर त्रुटि हो तो सत्य के नाम पर हममें अहं आ डट सकता है। इसलिए जो साधना निपट आध्यात्मिक है वह निरी एकान्तिक भी हो जाती है। खोलने की बजाय वह जकड़ भी बन चलती है। ऋजुता की जगह उसमें काठिन्य होता है जो व्यक्तित्व को धार देता है, सामन्जस्य नहीं। इसीसे महावीर की साधना में से अनेकान्त का दर्शन निकला यानी हठवादिता नहीं हो सकती। तत्त्व अनेक-विधि दीखेगा, निरूपण भी उसका अनेक रूप होगा। एक पर हठ अनेक का असत्कार है इसलिए अनजाने वह सत्य का तिरस्कार बनता है।

इस असाध्य साधन की कथा, कठोर तपश्चरण की गाथा सुनाने का यहाँ अवसर नहीं है। उसका परायण मानवात्मा को साहस देने वाला है। उसकी निष्ठा इससे अडिग बनेगी। महावीर उस परीक्षा में अकम्प

और ऊर्जस्व बने रहे। यहाँ तक कि कर्म सब गलित हुए और उन्हें कैवल्य लाभ हुआ। कैवल्य अर्थात् केवल सहानुभूति, केवल व्यथा केवल ज्ञान, केवल चैतन्य। कुछ भी वह नहीं जो अन्तराय बन सके, कहीं परता नहीं। स्वत्व की कहीं सीमा नहीं, इसलिए कोई उसकी स्थिति नहीं।

जानता हूँ महावीर की यह शान्ति-मूर्ति अलौकिक प्रतीत होगी। व्यक्तिगत संदर्भ से वह टूटी जान पड़ेगी। जान पड़ेगा कि यह तो व्यक्ति नहीं है, प्रतिभा है। यह बात सच ही है, लेकिन ढाई हजार संवत्सर पहले सत्तर-बहत्तर वर्ष इस संसार में रहकर जो निर्वाण पाकर हमसे और इतिहास से लुप्त हो गए उन की चर्चा भी मैं कैसे करूँ! सब ब्योरे प्रामाणिक बनाकर जुटाये भी जा सकें तो वह अमुक व्यक्ति ऐतिह्य से आगे क्या बता सकेंगे। लेकिन जो महावीर अमर हैं, जिनको लक्ष-लक्ष जन अपने अन्तःकरण की पूजा देते हैं, जो कभी लुप्त न होंगे इस तरह सतत भाव से हमारे स्पन्दन में जाग्रत रहते हैं, वही वास्तव हैं, वही सत्य हैं; क्योंकि व्यक्ति से वे निर्वैयक्तिक हो सके हैं, व्यष्टि को समष्टि में समा सके हैं।

शान्ति की वे मूर्ति है क्योंकि उस अन्तरात्मा से उन्होंने साम्य साधा है जो सब कहीं एक है। जो विषम है, बाधक है उसको उन्होंने जीता है, इसलिए शान्ति उन्हें उतनी करनी नहीं हुई जितनी उनसे फूटती और विकीर्ण होती चली गई। आज के युग में जब शान्ति की बेहद खोज और बेहद प्यास है उस समय शान्ति के प्रतीक महावीर का उदाहरण हमें सही मार्ग का निर्देश देगा और हम शान्ति की चेष्टा का आरोप दूसरे पर करने से पहले उसका आरम्भ अपने से करना चाहेंगे।

२

जिन महावीर की हम जयन्ती मनाते हैं, वह हमसे दो हजार वर्ष दूर हो गये हैं। लेकिन क्या हमने कभी सोचा है कि वह हमसे इतने दूर हैं? पास इतने बहुत से लोग हैं, उनकी जयन्ती मनाने की तो

बात हम लोग नहीं सोचते हैं। तब यही मानना चाहिए कि यह ढाई हजार वर्ष का अन्तर हमारे लिए अन्तर नहीं है। वह महावीर शायद उतने पहले होकर तभी समाप्त नहीं हो गये। वह तो समाप्त होने वाले ही नहीं हैं। जो कभी जन्मा था, एक दिन आया कि वह मर भी गया। लेकिन हम जिन महावीर को याद करके अपने अन्दर बराबर जगाये रखना चाहते हैं, वह तो एक तिथि में प्रकट होकर किसी दूसरी तिथि में लुप्त हो जाने वाले नहीं हैं। वह तो अतिथि हैं और देश-काल से अतीत, सच्चिदानन्द-मय कैवल्यरूप हैं।

पश्चिम से एक विधि आई है जिसे वैज्ञानिक कहते हैं। वह सभी ओर फैल रही है। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र पर भी यह फैलना चाहती है। मैं मानता हूँ कि यह उसकी स्पर्धा व्यर्थ है। अपने आदि को कोई स्वयं कैसे नाप सकता है? इस तरह बुद्धि श्रद्धा को नाप नहीं सकती, इस प्रयास में अपने को ही घायल कर सकती है। खैर, इस विलायत से आई हुई विधि की मजबूरी से लोग महावीर को इतिहास में ठीक-ठीक बिठाकर देख लेना चाहते हैं।

वह कोशिश पूरी कामयाब नहीं हो रही है। श्रद्धा से, परम्परागत भाव से कुछ-न-कुछ हम तो उन लोगों को प्राप्त हैं जो अपने को उनका अनुयायी मानते हैं। अनिवार्य है कि वह रूप यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक बढ़ा हुआ हो। इस तरह स्वभावतः महावीर के रूप एकाधिक हो गये हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में उनके चरित्र को एक प्रकार से माना है। दिगम्बर लोग, कुछ दूसरी ही परम्परा को मान्य करते हैं। एक जगह वह परिवार के हैं, पति हैं और पिता हैं। दूसरी जगह बाल-ब्रह्मचारी हैं।

इतिहासज्ञ के लिए यह प्रयत्न जरूरी हो सकता है कि वह जाने कि व्यक्ति-रूप में महावीर क्या थे? यों वह खोजी भी यह सब कुछ जान-जोड़कर अन्त में क्या लाभ उठायेगा, मेरी समझ में नहीं आता। लेकिन चलो, जिसकी यह धुन है वह उसे पूरा करे। लेकिन धार्मिक के

लिए वह सब काम बिलकुल भी जरूरी नहीं हैं। इतिहास में महावीर हों न हों, या कम-अधिक प्रबल और प्रख्यातरूप में हों; धार्मिक के मन में तो वह उसके सर्वस्व बनकर बैठे हुए हैं ही। निश्चय ही वह उनका वह रूप है, जो धार्मिक के चित्त को पूर्ण तुष्टि देता है। निश्चय वह श्रद्धा और परम्परागत मान्यता का बना हुआ रूप है, किन्तु उसके लिए वही सर्वथा सत्य है, वही आदर्श है, वही यथार्थ भी है।

ऐसा समझ लें तो महावीर से हम पूरा-पूरा लाभ पा जायँ। अन्यथा हम महावीर को लेकर आपस में द्वेष भी पैदा कर सकते हैं। साम्प्रदायिक और सांसारिक जन अक्सर अपने इष्ट को लेकर इस प्रकार की उलझन अपने आसपास खड़ी कर लेते हैं और जो उपास्य मुक्ति के लिये हैं, उसी को बन्धन का कारण बना डालते हैं।

महावीर की ऐतिहासिकता में, उनकी वैयक्तिकता में मैं नहीं जाऊँगा। जैन के नाते उन्हें मेरा उपास्य ही रहना चाहिये, शल्य-क्रिया का पात्र मैं उन्हें नहीं बना सकता। यदि वैसा करना हो तो उन्हें अपना तीर्थंकर, अपना भगवान् मानने से छुट्टी पा लेना जरूरी है। दोनों काम साथ नहीं चल सकते हैं।

लेकिन जो हमारे लिए परम इष्ट बना, यहाँ तक कि हम उसे भगवान् कहते हैं, तो वह बना कैसे ? स्पष्ट है कि आरम्भ उसने व्यक्ति होकर किया फिर साधना से उसका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर ऐसा विराट् होता चला गया कि उस व्यक्ति में समष्टि की झाँकी मिल उठी। चरम और अन्तिम सत्य तो निर्गुण निराकार है। वह अलख निरंजन है। इन्द्रियों से हम उसे कैसे पाएँ ? इससे जब कोई अपने स्वरूप में से उस अरूप की झाँकी दे देता है तो वह स्वरूप ही हमारे लिए सर्वेश्वर का रूप हो उठता है। इसमें अन्यथा कुछ नहीं है। भक्ति अपनी सार्थकता के लिए अगुण को सगुण बना ही लेगी। नहीं तो हम जीव-जन अपनी उपासना, आराधना, प्रार्थना का नैवेद्य ही कहीं नहीं दे पाएँगे।

अब जितने भी रूपों में महावीर हमारे बीच विद्यमान हैं, उन सब में ही एक बात तो सामान्य है, उस बारे में तनिक भी विकल्प नहीं है। वह यह कि अच्छे सम्पन्न कुल में उन्होंने जन्म पाया। राजपाट का भोग उनके समक्ष था। लेकिन एक दिन वह सब छोड़ उन्होंने वन की राह ली और वहाँ से ही जो पाया सो पाया।

यह बात बार-बार सोचने लायक है। अपनी सम्पदा से, धन-धान्य की विपुलता से क्या वह बहुत-कुछ उपकार और लाभ नहीं कर सकते थे? क्या दुखी और दीनजन तब न रहे होंगे? क्या उस धन से और पद से उन दीन-दुखियों की बहुत-कुछ सेवा नहीं की जा सकती थी? क्या और लोग, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव उनसे यह अपेक्षा न रखते होंगे? क्या उनकी इस आशा को पूरा करना उन पर कर्तव्य न था? क्या इस प्रकार अनायास भाव से मिली हुई धन-सम्पदा को परोपकार में लगाना सत्कर्म और उचित कर्म न था?

फिर यह क्यों हुआ कि उन्होंने यह सब-कुछ न किया। वह सब कुछ धन-धान्य, पद-सम्पदा, कर्म-कर्तव्य उन्होंने छोड़ा क्यों? सब-कुछ होकर न-कुछ होने की राह क्यों पकड़ी?

इस जगह बार-बार मेरा ध्यान जाता है और डूब जाता है। मालूम होता है कि सत्य की साधना का मर्म भी यहीं है।

नहीं, मैं उस मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकूँगा। क्योंकि सन्तोष मुझे नहीं है कि मैं उसे अच्छी तरह प्राप्त कर सका हूँ। साथ ही यह भी सच है कि उस मर्म को तो आत्म-वेदना में से सब को स्वयं ही उपलब्ध कर लेना होगा। किसी दूसरे की कोशिश कभी अपने काम नहीं आएगी। अन्त में मेरी भावना है कि हम लोग सब उस भेद को अपने लिए खोलने का प्रयास करेंगे और अपनी अनुभूति में उसका उत्तर क्रमशः घनिष्ठ भाव से उतारते जाएँगे।

परम सांख्य

आदमी ने जबसे अपने होने को अनुभव किया तभी से यह भी पाया कि उसके अतिरिक्त शेष भी है। उसकी अपेक्षा में वह स्वयं क्या है और क्यों है? अथवा कि जगत् ही उसकी अपेक्षा में क्या है और क्यों है? दोनों में क्या परस्परता और तरतमता है?—द्वैत-बोध के साथ ये सब प्रश्न उसके मन में उठने लगे।

प्रश्न में से प्रयत्न आया। आदमी में सतत प्रयत्न रहा कि प्रश्न को अपने में हल कर ले। पर हर उत्तर नया प्रश्न पैदा कर देता रहा और जीवन, अपनी सुलझन में और उलझन में, इसी तरह बढ़ता रहा।

सत्य यदि है तो आकलन में नहीं जमेगा। ऐसे सत्य शांत और जड़ हो जायगा। जिसका अन्त है, वह और कुछ हो, सत्य वह नहीं रहता।

पर मनुष्य अपने साथ क्या करे? चेष्टा उससे छूट नहीं सकती। उसके चारों ओर होकर जो है, उससे निरपेक्ष बनकर वह जी नहीं सकता। प्रत्येक व्यापार उसे शेष के प्रति उन्मुख करता है। वह देखता है तो वर्ण, सुनता है तो शब्द, छूता है तो वस्तु। इस तरह हर क्षण के हर व्यापार में वह अनुभव करता है कि कुछ है, जो वह नहीं है। वह अन्य है और अज्ञात है। प्राप्त है और अप्राप्त है। यदि सत्य है तो हर पल बन-मिट रहा है। यदि माया है तो हर क्षण प्रत्यक्ष है।

अपने साथ लगे इस शेष के प्रति मनुष्य की कामना और क्रीड़ा, उसकी जिज्ञासा और जिघांसा, कभी भी मन्द नहीं हुई है। आदमी ने चाहा है कि वह सबको अपनी समझ में बिठा ले, या समझ से मिटा दे। किसी तरह सब में, या सबसे वह मुक्त हो। उसके अपने आत्म के बाहर यह जो अनात्म है, इसकी स्वीकृति से, सत्ता से, परता से किसी तरह वह उत्तीर्ण हो जाय। या तो उसे बाँधकर वश में कर ले, या तर्क के जोर से गायब कर दे, या नहीं तो फिर अपने को ही उसमें खो दे। अनात्म के मध्य आत्म अवरुद्ध है। या तो परत्व मिटे या सब स्व-गत हो, या फिर स्वत्व ही मिट जाय।

अपने चारों ओर के नाना रूपाकार जगत् को मनुष्य ने चाहा कि पा ले, पकड़ ले, और ठहराकर अपने में ले ले। सत्य को अपने से पर रहने दे कर वह चैन से नहीं जी सका। छटपटाता ही रहा कि उसे स्वकीय करे।

इस मुक्ति की या पूर्णता की अकुलाहट में मनुष्य ने नाना धर्मों, साधनाओं और दर्शनों को जन्म दिया।

मुक्ति की ओर का प्रयत्न जब मनुष्य का सर्वांगीण और पूर्ण प्राणपण से हुआ तब दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ। तब व्यक्तित्व को ही परिष्कार मिला। सीमाएँ मिटकर उसमें समष्टि की विराटता आई। दर्शन तब उससे स्वतः फूटा। धर्मों के आदि स्रोत ऐसे ही पुरुष हुए। उन्होंने दर्शन दिया नहीं। देने को उनके पास अपनी आत्मरूपता ही रही। परिणाम में वे एक साथ सब दर्शनों के लिये सुगम और अगम बन गए।

दर्शन बनता और मिलता है तब, जब प्राणों की विकलता की जगह बुद्धि की तीव्रता से प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट ही वह प्रयत्न अविकल न होकर एकांगी होता है। इसमें व्यक्ति 'असल नहीं उसकी तस्वीर' ही पाता है। इस तरह स्वयं (सत्य का) प्रकाश नहीं होता या प्रकाश देता है, बल्कि, शब्दों अथवा तर्कों के संयोजन द्वारा उस प्रकाशनीय तत्त्व

का वर्णन देता है।

अतः दर्शनकार वे हैं जो सत्य जीते नहीं, जानते हैं। जीने द्वारा सत्य सिद्ध होता है। वैसा सत्य जीवन को भी सिद्धि देता है। पर जानने द्वारा सत्य सीमित होता है और ऐसा सत्य जीवन को भी सीमा देता है।

जीवन में से धर्म प्राप्त होता है। प्रयत्न में से दर्शन।

यह दर्शन भी विविध है। एक सीधा देखा गया। दूसरा अनुमाना गया। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों में अधिकांश यह अन्तर है। पहले आदर्श की एकता से यथार्थ की अनेकता पर उतरते हैं। दूसरे तत्व की विवधता से आरम्भ करके तर्कशः शिखर की एकता की ओर उठते हैं।

प्राच्य दर्शनों का आरम्भ इसी से ऋषियों से होता है, जो जानने से अधिक साधते थे। यहाँ के दर्शनों की पूर्व-पीठिका है उपनिषद्, जो काव्य हैं। उनमें प्रतिपादन अथवा अंकन नहीं है। उनमें केवल अभि-व्यंजन और गायन है।

हृदय-द्वारा जब हम निखिल को पुकारते और पाते हैं तब शब्द अपनी सार्थकता का अतिक्रमण करके छन्द और लय का रूप ले उठते हैं। तब उनमें से बोध और अर्थ उतना नहीं प्राप्त होता, जितना चैतन्य और स्पन्दन प्राप्त होता है। वे बाहर का परिचय नहीं देते, भीतर एक स्फूर्ति भर देते हैं।

किन्तु सबुद्धि मानव उसे अखंड रूप से अनुभूति में लेकर स्वयं अभिभूत हो रहने से अधिक उसे शब्द में नाप-आंक कर लेना चाहता है। ऐसे सत्य उसका स्वत्व बन जाता है। शब्द में नपतुल कर वह मानो संग्रहणीय और उपयोगी बनता है। उसे अंकों में फैलाकर हम अपना हिसाब चला सकते हैं और विज्ञान बना सकते हैं।

शिशु ने ऊपर आसमान में देखा और वह विह्वल हो रहा। शास्त्री ने धरती पर नकशा खींचा और उसके सहारे आकाश को ग्रह-नक्षत्रों में बाँट कर उसने अपने काबू कर लिया।

शब्दों का और अंकों का यह गणित हुआ आयुध, जिससे बौद्धिक ने सत्य को कीलित करके वश में कर लिया। असंख्य को संख्या दे दी, अनन्त को परिमाण दे दिया, अक्षर को आकार पहनाया और जो अनिर्वचनीय था, शब्दों द्वारा उसी को धारणा में जड़ लिया।

उद्भट बौद्धिकों का यह प्रयत्न तपस्वी साधकों की साधना के साथ-साथ चलता रहा।

मेरा मानना है कि जैन 'धर्म' से अधिक 'दर्शन' है, और वह दर्शन परम सांख्य और परम बौद्ध है। उसका आरम्भ श्रद्धा एवं स्वीकृति से नहीं, पश्चिम के दर्शनों की भाँति तर्क से है। सम्पूर्ण सत्य को शब्द और अंक में बिठा देने की स्पर्धा यदि किसी ने अटूट और अथक अध्यवसाय से की तो वह जैन-'दर्शन' ने। वह दर्शन गणित की अभूतपूर्व विजय का स्मारक है।

जगत् अखंड होकर अज्ञेय है। जैन-तत्त्व ने उसे खंड-खंड करके सम्पूर्णता के साथ ज्ञात बना दिया है।

"जगत् क्या है?"

चेतन-अचेतन का समवाय।

"चेतन क्या है?"

हम सब जीव।

"जीव क्या है?"

जीव है आत्मा। असंख्य जीव सब अलग-अलग आत्मा हैं।

"अचेतन क्या है?"

मुख्यता से वह पुद्गल है।

"पुद्गल क्या है?"

वह अणुरूप है।

"पुद्गल से शेष अजीवतत्त्व क्या है?"

काल, आकाश आदि।

"काल क्या है?"

यह भी अणुरूप है।

"आकाश क्या है ?"

अनन्त प्रदेशी है।

"आदि क्या ?"

चलना ठहरना जो दीखता है, उसके कारण रूप, तत्त्व इस आदि में आते हैं।

इस तरह सम्पूर्ण सत्ता को, जो एक ओर इकट्ठी होकर हमारी चेतना को अभिभूत कर लेती है, अनन्त अनेकता में बाँटकर मनुष्य की बुद्धि के मानो वशीभूत कर दिया गया है। आत्मा असंख्य है, अणु असंख्य और अनन्त हैं। उनकी अपनी सत्यता मानो सीमित और परिमित है। यह जो अपरिसीम सत्ता दिखाई देती है, केवल-मात्र उस सीमित सत्यता का ही गुणानुगुणित रूप है।

जैन-दर्शन इस तरह शब्द और अंक के सहारे उस भीति को और विस्मय को समाप्त कर देता है, जो व्यक्ति सीधी आँखों इस महाब्रह्मांड को देखकर अपने भीतर अनुभव करता है। उसी महापुलक, विस्मय और भीति के नीचे मनुष्य ने जगत्-कर्त्ता, जगद्धर्त्ता, परमात्मा, परमेश्वर आदि रूपों की शरण ली है। जैन-दर्शन उसको मनुष्य के निकट अनावश्यक बना देना चाहता है। परमात्मत्व को इसलिए उसने असंख्य जीवों में बखेर कर उसका मानो आतंक और महत्त्व हर लिया है। ब्रह्माण्ड की महामहिमता को भी उसी प्रकार पुद्गल के अणुओं में छितरा कर मानो मनुष्य की मुट्ठी में कर देने का प्रयास किया है।

जैन-दर्शन की इस असीम स्पर्धा पर कोई कुछ भी कहे, पर गणित और तर्क-शास्त्र के प्रति उसकी ईमानदारी अपूर्व है।

मूल में सीधी मान्यताओं को लेकर उसी आधार पर तर्क-शुद्ध उस दर्शन की स्तूपाकार रचना खड़ी की गई।

मैं हूँ, यह सबुद्धि मनुष्य का आदि सत्य है। मैं क्या हूँ ? निश्चय हाथ-पाँव आदि अवयव नहीं हूँ, इस तरह शरीर नहीं हूँ। जरूर कुछ

इससे भिन्न हूँ। भिन्न न होऊँ तो शरीर को मेरा कहने वाला कौन रहे ? इससे मैं हूँ आत्मा।

मेरे होने के साथ तुम भी हो। तुम अलग हो, मैं अलग हूँ। तुम भी आत्मा हो और तुम अलग आत्मा। इस तरह आत्मा अनेक हैं।

अब शरीर मैं नहीं हूँ। फिर भी शरीर तो है। और मैं आत्मा हूँ। इससे शरीर अनात्म है। अनात्म अर्थात् अजीव, अर्थात् जड़।

इस आत्म और अनात्म, जड़ और चेतन के भेद, जड़ की अणुता और आत्मा की अनेकता—इन प्राथमिक मान्यताओं के आधार पर जो और जितना कुछ होता हुआ दीखता है, उस सब को जैन-तत्त्व-शास्त्र ने खोलने की और कारण-कार्य की कड़ी में बिठाने की कोशिश की है। इस कोशिश पर युग-युगों में कितनी मेधा-बुद्धि व्यय हुई है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। वर्तमान में उपलब्ध जैन-साहित्य पर्वताकार है। कितना ही प्रकाश में नहीं आया है। उससे कितने गुना नष्ट हो गया, कहना कठिन है। इस समूचे साहित्य में उन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर जीवन की और जगत् की पहेली की गूढ़-से-गूढ़ उलझनों को सुलझाया गया और भाग्य आदि की तमाम अतर्क्यताओं को तर्क-सूत्र में पिरोया गया है।

आत्म और अनात्म यदि सर्वथा दो हैं तो उनमें सम्बन्ध किस प्रकार होने में आया—इस प्रश्न को बेशक नहीं छूआ गया है। उस सम्बन्ध के बारे में मान लेने को कह दिया गया है कि वह अनादि है। पर उसके बाद अनात्म, यानी पुद्गल, आत्म के साथ कैसे, क्यों, कब, किस प्रकार लगता है, किस प्रकार कर्म का आस्रव होता है, बन्ध होता है, किस प्रकार कर्म-बन्ध फल उत्पन्न करता है, आदि-आदि की इतनी जटिल और सूक्ष्म विवेचना है कि बड़े-से-बड़े अध्यवसायी के छक्के छूट जा सकते हैं।

फिर उस कर्म-बन्ध की निर्जरा यानी क्षय किस प्रकार होगा, आस्रव (आने) का संवर (रुकना) कैसे होगा और अन्त में अनात्म

से आत्म पूरी तरह शुद्ध होकर कैसे बुद्ध और मुक्त होगा, इसकी पूर्ण प्ररूपणा है।

इतना ही नहीं, जैन-शास्त्र आरम्भ करके रुकता अन्त से पहले नहीं। मुक्त होकर आत्मा लोक के किस भाग में, किस रूप में, किस विधि रहता है, इसका भी चित्र है।

संक्षेप में वह सब जो रहस्य है, इससे खींचता है; अज्ञात है, इससे डराता है; असीम है, इससे सहमाता है; अद्भुत है, इससे विस्मित करता है; अतर्क्य है, इससे निरुत्तर करता है—ऐसे सब को जैन-शास्त्र ने मानो शब्दों की और अंकों की सहायता से वशीभूत करके घर की साँकल से बाँध लिया है। इसी अर्थ में मैं इस दर्शन को परम बौद्ध और परम सांख्य का रूप मानता हूँ। गणना-बुद्धि की उसमें पराकाष्ठा है। उस बुद्धि के अपूर्व अध्यवसाय और स्पर्धा और प्रागल्भ्य पर चित्त सहसा स्तब्ध हो जाता है।

अँधेरे में प्रकाश

यह बीसवीं सदी जान पड़ती है, मानव-विकास के इतिहास में सन्धि की कड़ी होने वाली है। सत्रहवीं सदी के आस-पास श्रद्धा के युग को पीछे छोड़ कर, बुद्धि का वाद उपजा। उसने ईश्वर का आसरा छोड़ा और अपना भरोसा बाँधा। मालूम हुआ कि प्रकृति में तरह-तरह की शक्ति के स्रोत बन्द पड़े हैं। मनुष्य उन्हें खोलेगा और अपने वश में करके इस धरती पर विपुलता का स्वर्ग उतार सकेगा। बुद्धि ने तर्क और गणित के सूत्र से नए-नए आविष्कार किए। कल-कारखाने खड़े हुए; और भद्र-सभ्यता का उदय हुआ। यह सभ्यता पदार्थ की अतिशयता चाहती थी और शक्ति पर कब्जा। इस तरह यह सभ्यता राजनीतिक थी और कूटनीति इसका अंग थी।

वह बुद्धि-विज्ञान का युग अपना उत्कर्ष साधता चला आया है। समाज बने हैं; साम्राज्य बने हैं और अति विराट पूँजी-चक्र खड़े हुए हैं। एक-एक कम्बाइन के पेट में करोड़ों जनों का भाग्य समा गया है। सभ्यता अपने इतने चरम-उत्कर्ष पर आ पहुँची है कि जो उसके शीर्ष पर है मानो वह उतना ही हृदय से हीन होने को लाचार है। यह बौद्धिक सभ्यता है और भावुकता यहाँ की सब से बड़ी कमजोरी है। इसमें हिसाब है, जिसे विज्ञान का रूप मिला है और जिसका शास्त्र बन उठा है। मानो वह शास्त्र (पोलिटिकल-एकोनोमिक) जीवन का

ही शास्त्र हो।

मानव-इतिहास के एक गहन विवेचक ने स्थिर किया था कि किस प्रकार एक संस्कृति उदय में आकर, अपना चरम उत्कर्ष साधकर अस्त की ओर ढल पड़ती है। उसका काल-निर्णय भी उसने किया था। यह यह भी उसका अनुमान था कि जिस संस्कृति को हम पाश्चात्य कह कर निर्दिष्ट कर सकते हैं—अपने चरम बिन्दु पर आ पहुँची है और यही उसके अस्तकाल के आ पहुँचने का लक्षण है।

वह जो हो यह प्रत्यक्ष है कि आज बुद्धि का हृदय पर इतना दबाव है कि मनुष्य अधिक काल उसे नहीं सह सकता; मानो जीवन में एक गम्भीर द्वन्द्व मच उठा है। राजनीतिक भाषा उसे डिमोक्रेसी और डिक्टेटरशिप, पूंजी और श्रम का द्वन्द्व कहे पर वह इन शब्दों से अधिक गहन और अधिक मूलगत है। वह मानवता का अन्तर्द्वन्द्व है और असह्य होने के निकट आ गया है। प्रकृति अधिक काल दिल और दिमाग के बीच का खिंचाव बर्दाश्त नहीं कर सकती और यदि दोनों में सामन्जस्य नहीं होता तो एक के प्रभुत्व के बाद प्रतिक्रिया में दूसरे के प्रतिवाद को आना ही होगा। बुद्धि ने विज्ञान को और उसकी महा-शक्ति को स्पष्ट करके मानव की सहज-श्रद्धा को सदियों स्तब्ध किए रखा। आदमी, जो सरकता था, उड़ने लगा। दुनियाँ, जो अनन्त थी, उसके लिए अत्यन्त सीमित हो गई। देश के लिये विदेश मिट गया और मानो ओर से छोर आ मिला। घंटों में आप दुनियाँ पार कर लीजिए और यहाँ बैठे-बैठे सब कोनों से बात कर लीजिए। यह तो हुआ लेकिन साथ ही उसने पाया जब दूर का आदमी उसे पास हो गया है तब पास का आदमी लगभग उतनी ही दूर उससे पड़ गया है। तब हर आदमी किसी का पड़ोसी था और पड़ोसियों को एक-दूसरे का सहारा था। अब हर आदमी अपने में है और हर दूसरा आदमी उससे अलग पराया है। हर दो व्यक्ति आज दो हैं। पति-पत्नी भी एक नहीं, आज आपस में दो बनकर रहते हैं। और यह आध्यात्मिक धरातल पर

नहीं है, जहाँकि व्यक्ति का अपने अन्तर्निहित-परमात्मा के साथ संबन्ध का प्रश्न है; बल्कि आर्थिक-धरातल पर, जहाँ कि पदार्थ का हिसाब है।

इस पदार्थ-बुद्धि से संचालित संस्कृति का ज़ोर रहा। भारत सबसे पिछड़े मुल्कों में गिना गया, वह श्रद्धा का देश था। उसी नमूने पर उसकी समाज-व्यवस्था थी। यहाँ से वहाँ तक खेतों के बीच में टकी बूँदों से गाँव उसमें फैले थे। अधिक-से-अधिक कस्बे थे, शहर जैसी तो कोई चीज न थी। ग्राम केन्द्रित थे उनकी अर्थ-व्यवस्था थी और ग्राम-जीवन का सार था। सम्पदा में गौ, धान्य, परिवार और धरती आदि की गिनती थी। सिक्का चलन में था तो गौण भाव से। समाज का श्रेष्ठ-जन सम्पत्तियुक्त होता था। सब की चिन्ता थी इससे अपनी चिन्ता का उसे अवसर न था। इससे उसकी चिन्ता औरों का कर्त्तव्य हो जाती थी। इस नीति से चलने वाला यह भारत-देश सचमुच पिछड़ रहा है और बन्दूक-बारूद और कल-कारखानों में आगे बढ़ने वाला इंग्लैंड के वह आधीन हो रहा है।

इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भारत की धर्म-श्रद्धा काफी न थी। बुद्धि का योग उसमें चाहिए था। कौन जाने इतिहास में उसके साथ पश्चिम का योग इसी निमित्त से हुआ हो। लेकिन आज के दिन इतिहास की समाप्ति भी नहीं है और यह समझने का भी कारण नहीं है कि विज्ञान-बुद्धि से ही काम चलेगा और श्रद्धा के लिए कोई अवकाश नहीं।

विलायतों की दुर्व्यवस्था प्रत्यक्ष है—राजनीति वहाँ अस्तव्यस्त है और आन्तरिक द्वन्द फूटते दीख रहे हैं। तमाम जीवन की नीति ही वहाँ की अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। चिन्तक लोग चिन्ता में हैं और इस निष्कर्ष पर आ रहे हैं कि मूल में कहीं किसी अनिवार्य तत्त्व की उनके यहाँ कमी है। इससे सब-कुछ होने पर भी भीतर एक सन्देह और खोखलापन है। उस जीवन में समाधान नहीं है; जो सदियों के प्रयत्न से उन्होंने निर्माण किया।

ऐसे समय मुझे मोह है यह मानने का कि भारत की प्रकृति में, उस की निजता में कुछ है, जो वह विश्व को दे सकता है और जिसकी विश्व को आवश्यकता है। बाइबिल में आता है—आगे दीखते हैं, पीछे होंगे और जो बिछड़े हुए हैं, सबसे आगे पाए जाएँगे। लगता है कुछ ऐसी ही मौलिक क्रान्ति होने का समय आया है। आज जिस लाख और करोड़ पर सम्भ्रम है, कल हो सकता है व्यक्ति का लांछन समझा जाय। इसी तरह हो सकता है कि वे राष्ट्र जिनके पास सैन्यबल है और अस्त्र-शस्त्रों का बल है—विश्व की जनता के लिए सम्भ्रम, आतंक और ईर्ष्या का विषय न रहे बल्कि अभियोग के पात्र बन जाए। लक्षण दीख रहे हैं कि जगत् का लोक-मत जाग रहा है और इन चीज़ों की पहचान की ओर बढ़ रहा है। उस वक्त जब कि जगत् करवट लेगा और सामान्य मानवता जाग पड़ेगी तब अपने प्राणों में अहिंसा और अपरिग्रह की श्रद्धा लेकर प्राचीनता से आज तक जीवित रहने वाला भारत शायद मार्ग-दर्शन के लिए आगे होगा। हालत आज यहाँ की निराशा पैदा करती है, उससे ग्लानि होती है। भाई-भाई को मार रहा है। सवाल है कि भारत भारत रहेगा या कट-छटकर और-और नामों में बँट जायगा। ऐसे में महत्त्वाकांक्षा के स्वप्नों को पोसना मूढ़ता समझी जा सकती है, पर अनबन सदा नहीं रहेगी। पड़ोसियों को मिलना होगा। और अंग्रेज के चले जाने पर उस मिलने की लाचारी इतनी जबरदस्त हो जायगी कि उसके जवाब में भारत की प्रति भा अधिक काल सोई नहीं रह सकेगी। तब एक महा समन्वय होगा और भारत की अन्तःशक्ति वेग से फूट पड़ेगी।

नहीं समझा जाय कि भारत की वह अन्तःशक्ति मूर्छित है और अन्दर-ही-अन्दर काम नहीं कर रही है। लेकिन एक कृत्रिमता ने उसे ढक रखा है। भारतीय भाषाओं में वह अब भी व्यंजन है लेकिन अन्तर-प्रान्तीय बन कर जो आज अंग्रेजी हमारी राजनीति, हमारी राष्ट्रीयता

को और सामूहिकता को चला रही है, उसने उधर से हमारी आँखें मोड़ रखी हैं। अंगरेजियत में से भारत का शतांश भी नहीं दीख सकता। लेकिन इस ऊपरी अंगरेजियत में से ही भारत का अनुमान लिया जाता और दिया जाता है। अंग्रेजी की एसेम्बली, अंग्रेजी के पत्र अंग्रेज़ी के दफ्तर, अंग्रेजी की सरकारें। इससे जो असल भारत है मानो वह अनपहिचाना रह जाता है। राष्ट्र के काम-काज में उस असली भारत का पूरा योग नहीं हो पाता।

बदनसीबी यह है कि राष्ट्रभाषा पर ऐसा झगड़ा है कि उस काम के लिए जैसे अंग्रेजी भी शेष बच रहती है। प्रान्तों की समझे जाने वाली भाषाओं और बोलियों में भारतीयता का स्पन्दन और ध्वनि मिल सकते हैं लेकिन वे अलग-अलग हैं और कई हैं। इसलिए वह प्रकृत भारतीयता एकत्रित नहीं हो पाती। अंग्रेजी के द्वारा फिर जिस एकत्रित भारतीयता का प्रतिनिधित्व होता है, वह ऊपरी और सतह की ही होती है।

भारतीयता को पनपना है तो यह दुर्भाग्य जितनी जल्दी दूर हो अच्छा है।

एशियाई-सम्मेलन हो रहा है, जो अच्छी ही बात है। पर स्थायी-परिणाम के लिए तो ज़रूरी है कि राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक और सम्पूर्ण भारत एशिया के और देशों की सांस्कृतिक वास्तविकता से सम्पर्क स्थापित करे। सचमुच आगामी इतिहास में एशिया को बड़ा भाग लेना है। पश्चिम यदि बुद्धि के प्रागल्भ का प्रतीक है तो एशिया सहृदयता का। उसमें हिन्दुस्तान के जिम्मे कर्म-दायित्व का भार नहीं आने वाला है।

एशियन-कान्फ्रेंस के तत्काल बाद भारत का साहित्य-सम्मेलन भी होने वाला है। सब भाषाओं के चिन्तक और स्रष्टा उसमें सम्मिलित होंगे। साहित्य,संस्कृति का वाहक है। इस तरह अन्तरंग से उस सम्मेलन को सांस्कृतिक सम्मेलन कहना चाहिए। वह संस्कृति; जातीय या

राष्ट्रीय नहीं बल्कि शुद्ध और मानव-संस्कृति ।

क्या हम आशा करें कि यह सम्मेलन भारत की प्रतिभा और निजता को इस प्रकार एकत्रित और संगठित करेगा कि भारत की ओर का देय जगत् की व्यवस्था और जगत् के हित में युक्त हो सके ।

पत्थर की लकीर

कल एक सन्त की वाणी पढ़ने को मिली, जो बहुत अच्छी लगी। कहा गया था कि जैसे घर में रक्खी शीशियाँ उस घर वाले के रोगी होने की सूचना देती हैं, वैसे ही आदमी के पास की किताबें उसके बुद्धि-विकार को बतलाती हैं। जो बुद्धिनिष्ठ हैं उनके पास किताब का काम नहीं।

बात वह मन भाई, लेकिन तनिक ही बाद मालूम हुआ कि मैं पढ़ सकता हूँ और अक्षर रूप इस बानी का मेरे घर आना असम्भव नहीं हुआ, इसी कारण एक दूर देश के सन्त की मर्मी उक्ति मुझ तक पहुँच सकी। पढ़ना व्यर्थ है, यह पढ़ कर मालूम हुआ।

सन्त की वाणी तो पत्थर की लकीर है। खिंची कि मिटना मुश्किल है। उसमें हेर-फेर का या अपवाद का अवकाश नहीं है। पढ़ने-लिखने वालों पर उनके प्रवचन में हार्दिक करुणा थी। जैसे वे संसारी जीव हों और एक वीतरागी पुरुष के लिए दया के पात्र हों। सच तो है, संसार खुला पड़ा है, फिर भी वह किताब लिए बैठे हैं। शब्दों के अर्थ हैं तो बाहर सृष्टि में। पुस्तकों में शब्द है, सार नहीं और शब्द अपने आप में निस्सार हैं।

वाणी में अडिग स्पष्टता थी। अश्व का अर्थ जो कोष में है, अश्व उससे विशिष्ट है। एक हिनहिनाता हुआ जीवित प्राणी असल सार है।

सब अर्थ उसमें है। अश्व के बारे में बहुत-कुछ जान लो, लेकिन अगर उस घोड़े के साथ व्यवहार करने में वह जानकारी काम नहीं आती, तो वह जानकारी ही नहीं है। वह कोरा तमाशा है।

बात पते की है। सन्त पते की ही बात कहते हैं। लेकिन मुझे कहना है कि बात भयंकर भी है। और सच पूछो तो किसी को नहीं चाहिए कि वह ऐसा विरागी हो जाय कि संसारी न रहे। लिखने और पढ़ने से बिल्कुल छुटकारा सिद्ध को ही है। राष्ट्र की तो साक्षरता अनिवार्य है।

बारह-खड़ी में क्या है? अ आ क ख में क्या है? अंकों में क्या है? जो है सब प्रेम में है, यह बात एकदम सही है। लेकिन फिर भी प्रेम की पाठशालायें नहीं खोली जाएँगी। और गाँव-गाँव में प्राथमिक शालाएँ बनानी पड़ेंगी, जिनमें एक भी राष्ट्र का बच्चा अक्षर-ज्ञान सीखने से बच न पाएगा। पढ़ना होगा, पढ़ाना होगा। किताबें लिखनी होंगी, लिखानी होंगी। पुस्तकालय खुलेंगे और खोलने होंगे।

यह होगा; लेकिन सन्त की वाणी को नहीं भूलना होगा।

मैं सन्त को मनुष्य-जाति के परम पुण्य का फल मानता हूँ। वे वर्तमान की मर्यादाओं से अतीत होते हैं। आगे तो सभी देखते हैं; लेकिन रहते अपने समय में ही हैं। परन्तु सन्त रहते भी अपने समय में नहीं हैं। वह अपने समय से आगे रहते हैं। इससे सन्तों की वाणी मन में धारी जा सकती है, चलन में चलाई नहीं जा सकती। मन से बाहर आकर उस पर साग्रह आचरण हित के बजाय अनहित कर सकता है।

इससे जगत्-नियम देखने में आता है कि सन्त मरने के बाद समझा गया है। जीवित काल में वह अनबूझ रहता है और अकेला रहता है। और यह उचित ही है।

वर्तमान की मर्यादाएँ वर्तमान की शर्तें भी हैं। अतः तात्कालिक मूल्य भी कुछ होते हैं। वे भ्रामक होते हैं, ठीक। वे अन्तिम नहीं होते,

निश्चय। लेकिन उनके इन्कार पर तत्काल नहीं चल सकता। उनके स्वीकार पर ही तात्कालिक जीवन को बल मिलता है। इससे अगर उन मूल्यों को अपनी पहचान से उतार कर जीवन में यथाशक्य उनका इन्कार करके चलने का यदि सन्त प्रयासी है तो अनिवार्य है कि वह अपने काल में बल-संग्रह और लोक-संग्रह न कर पाए।

लेकिन गति तो इन्कार के आधार पर होगी। प्रचलित मूल्यों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके उनको घेरा मानकर जो बैठता है, उसका कोई भविष्य नहीं है। उसका बस वर्तमान-ही-वर्तमान है। वह ऐसा सफल व्यक्ति बनता है कि आँख से दूर हुआ नहीं कि स्मृति से मिटा नहीं। उसमें संभावनाएँ नहीं होतीं। बस स्थूल वर्तमान उसका होता है।

यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि वर्तमान से छुट्टी किसी को नहीं मिल सकती। जो कवि होकर निरा सपने का हो जाता है और सपनों के पंखों पर बैठ कर वर्तमान पर आँख मींच लेता है, योग्य है कि वह कवि अन्नाभाव में भूखा मर जाय। अथवा कि तात्कालिक वर्तमान के स्वामियों की करुणा-भिक्षा पर ही उसका जीवन सम्भव बने।

ऐसा कवि, ऐसा सन्त और ऐसा ज्ञानी महान् है। इतिहास में उसकी गणना होगी। उससे हम शिक्षा लेंगे। उसकी याद को हम पोसेंगे। आगे जाकर कीर्ति-स्तम्भ उसके बनाएँगे; लेकिन आज हम उसको अपने कान नहीं देंगे। उसकी बात सुनकर अनसुनी कर देना लाज़िमी होगा। क्योंकि दूर के हित में पास का हित खोना बुद्धिमानी नहीं है।

यह जमीन खतरे की है। पास का हित और दूर का हित क्या ये दो विरोधी हैं?

हाँ, अक्सर विरोध दीखता है। अगर देखने-ही-देखने का सवाल हो तो विरोध है भी।

लेकिन अगर सचमुच हित-साधना का प्रयत्न हो, तो विरोध उड़ जाता है।

चलने वाले के लिए प्रत्येक पग के साथ दूर पास आता जाता है।

वह चलता है और अपने चलने को ही जानता है। चलने में अगला कदम ही उसे काफी है। चलने की निरन्तरता ही बड़ी-से-बड़ी दूरी को पार कर सकती है। जरूरत नहीं कि दूरी को जाना जाय। जरूरत है कि चलते चला जाय।

इस पद्धति से मंजिल दूभर नहीं होती। उसकी स्मृति चिन्ता होकर नहीं व्यापती। और जहाँ है, वहाँ होकर व्यक्ति अस्थिर नहीं बनता। एकदम पास को वह देखता है और छलाँग मारकर उसे लाँघता नहीं। पास को सहर्ष स्वीकार करता हुआ कदम-कदम चलता चला जाता है। इसी में पास पिछड़ जाता है और दूर की मंजिल अपने-आप खिंची चली आती है।

इस प्रकार देखा जाय तो नहीं जरूरत है ईश्वर को जानने की, नहीं जरूरत है किसी आदर्श के नक्शे-बन्दी की और नहीं जरूरत है तात्त्विक उपदेशों की। जरूरत है आज और इस क्षण के लिए कदम उठाने की। जरूरत है कर्म की।

पर कर्म सिद्ध-यात्रा का अंग है, उसका क्रम है। वह साध्य नहीं है। साध्य पुरुषार्थ तो यात्रा है। आगे-से-आगे और फिर उससे आगे बस चलते जाना जहाँ यात्रा नहीं है, वहाँ कर्म बन्धन है। चलते जाते हुए भला सोचिए कोई चल चुके हुए कदम की याद करता है। यह नहीं कि वह भूलता जाता है; बल्कि जो पग उठता है उसमें हर-एक पिछले पग का परिणाम समाया और साथ रहता है। जो रुकता है, वही मानो अपने कर्म के प्रति अकृतज्ञ होता है। अर्थात् कर्म में आसक्ति कर्म-फल को ह्रास करती है।

इस भाँति जानना आवश्यक नहीं है। पाण्डित्य अनावश्यक है। दार्शनिकता भी अनावश्यक है। यात्री के लिए यात्रा आवश्यक है। और यात्रा में ही जो सहायक नहीं है वह अनावश्यक है। हर याद, हर चिन्ता, हर ज्ञान वहाँ बोझ है।

लेकिन यात्रा के माने ही हैं कि मंजिल अभी पूरी नहीं हुई। यात्री

अभी सिद्ध तो है ही नहीं। इसलिए वह जहाँ है वहाँ के अनुकूल बनता है। परिस्थितियों के साथ वह जड़ित नहीं; पर परिस्थितियों के प्रति उसे द्वेष भी नहीं। जो अपनी स्थिति से झगड़ता है, वह अपनी स्थिति को दुस्साध्य और गति को असाध्य बनाता है। कायिक तपश्चरण का अर्थ ऐसा ही झगड़ा है। यात्री हर स्थिति की आवश्यकता का निर्वाह करता है, पर प्रत्येक स्थिति का उपयोग कर वह उसको छोड़ता जाता है। बिना उपयोग वह किसी वस्तु और किसी क्षण को नहीं जाने देता। उसके लिए कुछ वस्तु गलत नहीं और कोई क्षण बुरा नहीं। क्योंकि वह सब में से अपना इष्ट लेता है। और इष्ट निकाल अनिष्ट के ऊपर से बढ़ चलता चला जाता है। यात्री को इस तरह व्यावहारिक होना आवश्यक है। नहीं तो तरह-तरह की प्रतिकूलताओं में वह उलझा रह जायगा। बल्कि अव्यवहारिक होने के कारण वह ऐसी प्रतिकूलताएँ स्वयं स्पष्ट कर लेगा।

आदर्शवादी यदि अव्यावहारिक है तो उसका यही मतलब है। आदर्श को तत्काल के साथ वह जोड नहीं सका है। उन दोनों में रगड़ है। और प्रतीत-सा होता है कि तत्काल उसे जकड़े है और तत्काल के साथ युद्ध करके ही मानो आदर्श की ओर बढ़ा जा सकता है।

एक प्रकार वह युद्ध है भी। लेकिन शुद्ध जीवन-विज्ञान वह है जहाँ रगड़ है नहीं, इसलिए गति ही है। वहाँ ताप प्रकाश रूप है। मानो शक्ति शक्ति होकर भी वह शान्त है। ताप प्रखर होकर भी शीतल है। अग्नि दाहक नहीं, केवल उज्ज्वल है। शक्ति है एकान्त दुर्दम, पर सर्वथा स्निग्ध।

तो शुद्ध जीवन-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो किताबों से नाराज होने की जरूरत नहीं है। जबकि बेशक किताब छोड़ने की तैयारी जरूरी है ही। उपयोग होता जायगा और निरुपयोगी छूटती जायगी। जो यात्री है उसके साथ यह अर्जन और विसर्जन का कार्य स्वयमेव होता जायगा। इसीलिए उसे अपनी ओर से कुछ छोड़ने की आवश्यकता नहीं

है। वस्तु के प्रति निषेध की वृत्ति उसे अप्राप्त है। निषिद्ध है तो उसे यही निषिद्ध है।

गति की मुक्ति के लिए जो नहीं छोड़ा जाता, छोड़ने के लिए छोड़ा जाता है, ऐसा छोड़ना छूटना नहीं है। यह तो त्याग को ही पकड़ना है। पकड़ने से त्याग भी भोग-रूप हो जाता है। अन्यथा तो बिना पकड़े भोग भी त्याग रूप बनता और मुक्तिसाधक हो जाता है। साग्रह त्याग गर्व को उत्तेजन दे सकता है और इस प्रकार यात्री की यात्रा को गति मन्द करता है। और आगे बढ़ने पर तो वह दम्भ हो जाता है और यात्रा की गति को असम्भव कर देता है। तब प्राणी चलता नहीं, चकराता है।

निष्कर्ष यह कि आदर्श मानकर किसी कर्म की प्रतिष्ठा ठीक नहीं है। कर्म में आदर्श है ही नहीं। कर्म में उपयोगिता है। कर्म उपयोगी हो, यही उसका आदर्श है।

भावना और प्रेरणा की बात दूसरी है। क्योंकि यात्री के पास एक ही प्रेरणा है, वह प्रेरणा है तीर्थ-प्राप्ति। शेष तो उसके लिए यात्रा ही है। और कर्ममात्र उसके लिए यदि कुछ अर्थ रखता है तो यही कि वह यात्रा के उसे योग्य भर रखने में उपयोगी हो।

इसलिए जहाँ कर्म का प्रश्न है, वहाँ उपयोगिता की माँग पहले है। जो उपयोगी नहीं, वह कर्म अनिष्ट है।

पुस्तकें लूँ कि पुस्तकें छोड़ूँ ? पढ़ूँ या नहीं पढ़ूँ ? इसके निर्णय के लिए सबसे पहले आवश्यक है कि व्यक्ति ऐसी समझ से छूट जाय कि पढ़ना या न पढ़ना अपने आप में कोई अच्छा या बुरा काम है। दोनों अच्छे दोनों बुरे। और जहाँ जो उपयोगी है, वहाँ वही अच्छा है। अनुपयोगी होकर वही बुरा है।

आशय है कि प्रत्येक कर्म समाज-हित और लोक-हित की अपेक्षा में ही उचित-अनुचित ठहराया जा सकता है। उससे अलग करके किसी कर्म में औचित्य की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

उपदेशक गुरु, सन्त, लेखक, वक्ता आदि की वाणियों में यही बहुत बड़ा खतरा है। जहाँ इनमें से कोई तनिक भी कम प्रेमी हुआ और तनिक भी अधिक ज्ञानी हो गया, जैसा कि लगभग हमेशा ही हो जाता है, वहाँ ही अर्थ का अनर्थ, भाव का वाद और शब्द का विवाद खड़ा हो जाता है। वहाँ सत्याग्रह की जगह कदाग्रह हो आता है।

पश्चिम के आये हुए सोशलिज्म का सामाजिक दृष्टिकोण इस खतरे के लिये अच्छा बचाव है। व्यक्तिगत आदर्श का वहाँ अवकाश ही नहीं है। व्यक्ति वहाँ समाज का अंग है और जिसमें समाज का मंगल नहीं है वह कर्म व्यक्ति के लिये भी अमंगल है।

यह दृष्टिकोण व्यक्ति के कर्म को एकांगी होने से बचा सकता है। एक बहुत बड़ा योगी या तपस्वी या विद्वान् या दार्शनिक अपने आप में ही होकर व्यर्थ हो जाता है। समाज में होकर उसकी यथार्थता है।

योग, तपस्या, विद्वत्ता, या कि दर्शन इनमें से कोई असामाजिक नहीं है। लेकिन व्यक्ति इनका इस प्रकार भी पीछा कर सकता है कि उनमें से हरेक असामाजिक हो जाय। मैं इससे सहमत हूँ कि ऐसी अवस्था में वह अच्छाई भी बुराई है।

मौत

एक मित्र मौत के बारे में बात करने लगे। उन्होंने कहा कि हम विज्ञान में तरक्की करने जा रहे हैं और अधिक दिन नहीं हैं हम जान लेंगे कि मौत को कैसे जीता जा सकता है। तब मरना गलत होगा और आदमी अमर होकर जीएगा।

यह उनकी आशा नहीं थी। यह उनका विश्वास था। वह विज्ञान का गम्भीर अध्ययन रखते थे। नई-से-नई खोज का उन्हें पता रहता था। उन्होंने पूछा कि मैं भी तो ऐसा मानता हूँ न ?

क्या मैं वैसा ही मानता हूँ ? मैंने कहा कि मौत के जानने की ज़रूरत मुझे नहीं मालूम होती। वह रहनी चाहिए। उसका रहना लाभकारी होता है। और मेरी किसी तरह समझ में नहीं आता कि मौत कैसे मर सकती है ?

उनको मुझ पर आश्चर्य हुआ। उनको नहीं समझ आया कि क्यों-कर मैं इसके अन्धकार में हो सकता हूँ। क्या विज्ञान ने साधन नहीं प्रस्तुत कर दिए हैं जिनसे हमारी ताक़त कितनी बढ़ गई है। आए दिन नए आविष्कार होते रहते हैं जो हमारी दृष्टि के विस्तार को बढ़ा रहे हैं। भोजन का परिमाण कम होता जा रहा है और ऐसी चीज़ें निकलती जा रही हैं जो सूक्ष्म-मात्रा में ली जाँय तो मुद्दत तक हमारा बल कायम रख सकती हैं। निश्चित रूप में विज्ञान ने हमारी आयु

बढ़ा ही है। क्या वह और नहीं बढ़ सकती? बढ़ते-बढ़ते क्या वह इतनी नहीं हो सकती कि मौत नहीं के बराबर दूर हो जाय? मुझे तो मनुष्य की सामर्थ्य पर विश्वास है। और मौत-जैसी दुर्घटना से मनुष्य सदा के लिए पराजित रहेगा, यह मैं किसी तरह नहीं मान सकता।

मित्र इस बारे में अत्यन्त विश्वस्त थे। लेकिन मुझे वह बात उतनी स्पष्ट न दीखती थी। मुझे मालूम होता था कि जीवन की अनन्तता में मौत तो अब भी बाधा नहीं है। मैं मरता हूँ, तुम मरते हो। तो क्या इससे जीवन रुकता है? लेकिन मैं भी न मरूँ, तुम भी न मरो, अर्थात् व्यक्ति कोई न मरे, ऐसी इच्छा करने की जरूरत मुझे नहीं मालूम होती। मालूम होता है व्यक्ति सदा जीएगा तो समाज मृतप्राय हो जायगी। अगर व्यक्ति सार्वकालिक होने के लिए हो तो समष्टि फिर किसलिए रह जायगी? इसलिए अगर समष्टि को रहना है तो व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता काल से परिमित ही हो सकती है। जो कालातीत है वह तो समष्टि है। काल उसमें है, व्यक्ति उसमें है। व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति में समष्टि से अभिन्न होकर तो अब भी अमर ही है। आत्मा भला कब मरता है? पर जहाँ व्यक्ति व्यक्तित्व से बँधा है, उस स्थिति में भी उसको अमर मानना अपूर्णता को ही कायम बना देना है। अपूर्णता अमर नहीं है। अपूर्णता को पूर्ण होने की राह में सदा बनकर मिटने को तैयार रहना चाहिए। मैं अमर होकर रहूँ, इसमें मेरे अपने पन का मोह है। मोह अमर नहीं हो सकता। अगर मैं हूँ तो दूसरे भी हैं। व्यक्ति सदा अनेक हैं। अनैक्य अमर हो नहीं सकता। इसलिए विज्ञान मौत को जीत जायगा, इस आशा का सहारा मुझे नहीं चाहिए। मैं स्वेच्छा-पूर्वक मरूँ, इससे भी मुझे सिद्धि मालूम होती है। न मरने के आग्रह रखने में मुझे कुछ महत्व नहीं मालूम होता।

मित्र इन बातों को समझदारी की बातें नहीं मान सके। उन्हें यह सब मेरे मन की और बुद्धि की कमज़ोरी मालूम हुई। आधुनिक

विज्ञान के बारे में मेरा अपरिचय ही इस तरह की हीन धारणा बनाने का कारण होगा, ऐसा उनका अनुमान था।

अनुमान उनका ठीक है। मैं विशेष नहीं जानता। लेकिन सविशेष जानकर भी मौत को मेटा जा सकता है, ऐसी प्रतीति मेरे भीतर तनिक भी घर नहीं कर पाती। मैं मौत में अन्त नहीं देखता। और जिस चीज़ का मौत में अन्त है उसको मैं किसी भाँति अनन्त नहीं मान सकता।

अगर मिट्टी का घड़ा कभी न फूट सके तो इससे मिट्टी की उपयोगिता कम होगी। घड़ा फूट सकता है, फूट जाता है और उसकी मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है, तभी वह घड़ा सार्वकालिक भाव से उपयोगी समझा जा सकता है। क्योंकि उसकी मिट्टी अब भी काम आ रही है। अगर घड़ा फूट सके ही नहीं तो मिट्टी भी मिट्टी में नहीं मिल सके। और निश्चित रूप में घड़े के कारण मिट्टी की शक्ति और उपयोगिता कम हो जाय।

आदमी के मरने की सम्भावना है, तभी आदमी की सार्थकता है। वह सम्भावना मिट जाने पर सार्थकता ही नहीं मिट जाती; बल्कि उसके होने की कल्पना ही मिट जाती है।

इससे मैं मौत को बेहद ज़रूरी मानता हूँ। मौत जीवन के विजय की घोषणा है, क्योंकि वह नए जन्म को सम्भव बनाती है। अगर मौत मिट गई तो जन्म भी मिट गया। जन्म मिट गया तो रह ही क्या गया? और जिसको जन्म चाहिए, मौत की उद्यतता तो उसे चाहिए ही नहीं। अन्यथा वह नए जन्म में बाधा है।

बिना मरे जन्म से भी कैसे छुटकारा हो? जन्म ही अपूर्णता का लक्षण है। मौत अपूर्ण की अपूर्णता नहीं चाहती। इसलिए स्वयं अपूर्ण को गोद में लेकर फिर जीवन की सम्पूर्णता की राह पर उसे डाल देती है। मर-मरकर अगर जीने का अवकाश न हो तो सम्पूर्णता की उपलब्धि की आशा एकदम निराशा हो जायगी। मैं तो यह विश्वास

करना चाहता हूँ कि विज्ञान वहाँ तक बढ़ेगा जहाँ वह स्वयं अपने से मुक्त हो जायगा। और व्यक्ति मौत को ही नहीं जीतेगा, अपने को भी इतना जीत लेगा कि वह जीवन-मुक्त हो जायगा। तब वह अमर नहीं; बल्कि अमरता होगा। जीवन और मौत दोनों ही उसके साथ अभिन्न होंगे।

लेकिन हम दूर पहुँच गए। मित्र इतने दूर जा पड़ना नहीं चाहते। वह बात तो वहाँ तक रखना चाहते हैं जहाँ समझ से उसका साथ न टूटे। जहाँ तर्क की एक-एक कड़ी पहचान में रहे और ऐसा न मालूम हो कि शब्दों द्वारा चलने वाली समझ मानो अपनी परिभाषा खोए दे रही है। और शब्दों के अर्थ की सीमाएँ आपस में विलीन हुई जा रही हैं।

मित्र ठीक हैं। समझ से नाता तोड़ना आसान नहीं है। जैसे कि पागल होना आसान नहीं है। पागलपन समाज से भी अधिक खुद पागल के लिए दुस्सह होता है। इसलिए पागलपन नहीं चाहिए। सदा समझदारी चाहिए।

समझदारी के लिहाज़ से मौत को समझना चाहिए। मैं पैदा हुआ और थोड़ी समझ आई कि मैंने पता पाया कि आसपास जीव मर रहे हैं। बिशन की दादी मर गई, रम्मू अहीर की बहू मर गई। और मोटर के नीचे आकर स्कूल जाते वक्त बस्ता हाथ में लिए लुन्नू बाबू मर गए। कह तो दिया मर गए; लेकिन मर कर क्या हो गए, सो कुछ समझ न आया। यह ज़रूर देखा कि उनके कुटुम्बी रो रहे हैं और सुना कि उन्हीं कुटुम्बियों ने फिर उन मरने वालों को ले जाकर जला दिया या गाड़ दिया।

कुछ और उमर हुई कि वह मर गए जिन्हें हम बाबा कहते थे और जो हमें खूब खिलाया करते थे और लाकर खिलौने दिया करते थे। मैंने माँ से पूछा—"अम्माँ, बाबा मर गए हैं।"

माँ ने कहा—हाँ, बेटा!

"तो मर कर गए कहाँ हैं?"

माँ ने कहा—"रामजी के पास चले गए हैं।"

लेकिन यह तो मौत के सम्बन्ध में आज कोई समझदारी की बात नहीं मालूम होती। यद्यपि सच्ची बात यह है कि मौत के उपरान्त की सचाई को इससे अधिक सचाई से कोई भी समझदारी की बात नहीं कह सकते।

जवान होने पर आया कि बाप मर गए, माँ गुजरीं। इस वक्त मैं अधिक समझदार था। और पिता-माता की क्रिया-कर्म करने के अनन्तर मौत के विचार पर अधिक नहीं ठहरा। अपने काम-धन्धे में लग गया। दो बच्चों का पिता पहले ही हो चुका था। बच्चे बड़े होकर बलिष्ठ बनते जा रहे हैं। मैं भी बड़ा होता जा रहा हूँ; लेकिन मेरे लिए बड़े होने का मतलब यह है कि मैं कमजोर होता जा रहा हूँ। वे जवान होंगे, मैं बूढ़ा हूँगा। वे कमाऊ होंगे, मैं असमर्थ हूँगा। वे रंग में होंगे, मैं तब मौत की ओर देख रहा हूँगा। वे इधर गृहस्थी से भरे-पूरे होंगे कि उधर मैं चलने को उद्यत दीखूँगा। वक्त आयगा कि उन्हें मेरी जरूरत न रहेगी और मैं जहाँ से उठ जाऊँगा। यह मेरी मौत होगी।

समझदारी की मौत यही है। जो अपने को अनावश्यक बना लेता है, वह उस समय मरने की भी छुट्टी पा लेता है। हरेक से माँग है कि वह अपनी आवश्यकता पूरी करे। उसके भीतर जो अभिप्राय निहित है, उसे सम्पन्न करे। वह आवश्यकता और अभिप्राय जब चुक जायँगे, तब मौत उसके सहारे के लिए आ जायगी।

यही नाता है। बच्चा जनमता है, पलता है, बढ़ता है। स्नेह के आदान-प्रदान से संतति और परिवार बनाता है और फिर शनैः-शनैः जीर्ण होकर मौत से मिल जाता है। यही क्रम नासमझी का नहीं मालूम होता। जवानों के काम में बुड्ढे अड़चन होने लगते हैं और उनकी अनुपस्थिति जवानों को अधिक नहीं खलती। अगर बुड्ढे न मरें तो जवानों को इससे बड़ा संकट दूसरा न मालूम हो। इससे कहना कठिन है कि मौत का औचित्य समझ से बाहर है।

तब मौत से बचने की इच्छा का औचित्य समझ से बाहर जान पड़े तो क्या अचरज। मुझे तो यही मालूम होता है कि वैसी इच्छा के मूल में कोई सच्ची समझदारी नहीं है।

लेकिन सुनिए, जवान कहता है, 'आपकी उम्र हो गई है बहुत। आप हिरास हो गए हैं। निराशा आप पर सवार है। जीवन का उत्साह आप में नहीं है। आप मौत के लिए तैयार हों तो ठीक ही है। लेकिन यह कहने का आपको क्या मिज़ाज है कि मौत ज़रूरी है? हम मौत को हराकर छोड़ेंगे। आज नहीं कल, कल नहीं परसों मौत को मिटना होगा। हम जीवन के प्रतिनिधि हैं। हम जवान हैं। निराशा हम नहीं जानते। आपकी तरह भाग्य के हाथों नत-मस्तक होकर मौत को ले-लेने वाले हम नहीं हैं। हम भाग्य से भी लड़ सकते हैं। आप क्या जानें कि आप प्रतिक्रिया के शिकार हैं। हम जागरण के दूत हैं। उद्बोधन के मन्त्र-दाता हैं। निराशा की बात आप कहेंगे तो हम आपको बोलने नहीं देंगे। जान पड़ता है, सचमुच ही आप का अन्त निकट आया है।'

मैं उस जवान को क्या कहूँ? क्या यह कहूँ कि जवान मैं भी रहा हूँ! लेकिन जो रहा हूँ उससे उन्हें क्या मतलब? जो अब हूँ, उन्हें ताल्लुक़ उसी से है। तो क्या यह कहूँ कि एक दिन होगा वे भी जवान न रहेंगे? लेकिन उस दिन की सम्भावना उनके मन में आज के दिन नहीं है। तो क्या यह उनके और मेरे लिए प्रसन्नता की बात नहीं है? उस प्रसन्नता पर अनागत वार्धक्य की छाया मैं कैसे पड़ने दूँ?

मैंने कहा कि भाई, मेरी निराशा तुम्हें छूती ही क्यों है? और अगर छूती है तो क्या इसी से साबित नहीं है कि वह निराशा भी निर्जीव नहीं है? उसमें आशा का सार है। या नहीं तो उससे यही प्रमाणित है कि तुम्हारे अन्दर ही निराशा की गुञ्जाइश है। क्यों भाई, मौत को स्वीकार करने के बाद क्या आशा तुम्हारे अन्दर टिकाए

नहीं टिकती ? अगर आशा तुम्हारे अन्दर मज़बूत है तो मौत की बात से कैसा डर ? मौत को अपने अन्दर समाकर तो आशा और भी दुर्जय बन जाती है।

लेकिन जवान नहीं माने। वह जवान जो थे। उन्होंने कहा कि वह मौत को नहीं मानना चाहते। मौत झूँठ है।

मैंने बताया कि मौत से न डरकर ही मैं मौत को झूँठ सिद्ध कर सकता हूँ। मौखिक इनकार से वह झूँठ नहीं होगी। और फिर हम खुद कौन पूर्ण सत्य हैं। लेकिन अगर मैं और आप सत्य हैं तो मौत इस कारण हमसे बड़ा सत्य है कि हम मरते हैं। हम खुदी के झूँठ को मिटा कर ही मौत के झूँठ को मिटा सकते है।

लेकिन युवक ने वह बात पूरी नहीं सुनी। कुछ दिनों बाद मुझे उनका एक लेख मिल गया जिसमें मैं निराशावादी, प्रतिक्रियावादी और भाग्यवादी बना हुआ था।

'प्रतिक्रिया' शब्द तो खैर, मन की प्रतिक्रिया में से बना है। अर्थात् मुख्यता से उसमें अपनी या गिरोह की रुचि-अरुचि प्रगट होती है, उससे अधिक भावार्थ उस शब्द में नहीं होता। लेकिन भाग्य और निराशा और मौत अवश्य मैं पूरे हृदय से स्वीकार करता हूँ। उनके किसी वाद को बेशक नहीं जानता। जैसे कि उजली धूप के वाद को नहीं जान सकता। धूप उजली होकर दीखती है। यही काफ़ी है। वाद के जरिये कोई उसे तब देखे जब उजलाहट वहाँ न हो। इससे भाग्य, निराशा और मौत किसी वाद के मुहताज नहीं हैं। उनका वादी मानो उनसे दूर हटना चाहता है। मेरा बस चले तो मैं उनसे एक-एक होना चाहूँगा।

मेरी कल्पना है कि मौत के साथ अभिन्न हो जाना उसको जीतना है। किसी भी क्षण मरने के लिए क्यों न तैयार रहूँ ? जीवन से बढ़कर मौत को मानें ही क्यों ? मौत को पीठ-पीछे क्यों, सामने हथेली पर क्यों न लिए फिरें। जीने के मोह में हर दिन क्यों सौ बार मरें ?

मौत को सामने देखकर क्यों न हर घड़ी जीवन की पूरी ज्योति से जीएँ। देखता हूँ कि मौत से छिपने के लिए आदमी रोज़ आदमियत की मौत बरदाश्त करता है। जीवन से लोग चिपटते हैं और आत्मा को कुचलने देते हैं। जैसे जीवन आत्म-तेज से कोई भिन्न पदार्थ है। मैं मानता हूँ कि मौत को खुली आँखों और प्रसन्न निमन्त्रण से देखने से जीवन का बल बढ़ता है। वह आशा जो कि निराशा की ओट नहीं लेती, उसको आलिंगन में ले लेती है। वह आशा तेजस्विनी बनती है।

मौत जीवन का अन्त नहीं है। वह जीवन के आरम्भ का प्रारम्भ है। मौत अन्त है तो व्यर्थ का वह अन्त है। जो अनावश्यक हो गया, गति-तेज और हीन-अर्थ हो गया, जिसका रस काम आ चुका है और अब जिसके रेशे सूख गए हैं, जिसका अस्तित्व-मात्र अस्तित्व रहकर जड़ीभूत हो गया है, जिसमें क्रिया नहीं, गति नहीं, स्फूर्ति नहीं; मौत यदि अन्त है तो ऐसे जड़ बन गए हुए जीव का है और वह अन्त भी इसीलिए है कि उस जड़ को नया चैतन्य प्रदान करे। एक नया अर्थ और एक नया प्रयोजन। मौत इस तरह जीवन की सहायिका है, वह जीवनेश की दासी है।

मृत्यु-पूजा

प्रश्न—क्या आप अमरता में विश्वास करते हैं ?

उत्तर—अमरता, यानी व्यक्ति की अमरता। नहीं, उसमें विश्वास करने की मेरे लिए तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य मर्त्य न हो इससे बड़ी दुःसम्भावना की मैं कल्पना नहीं कर सकता।

प्रश्न—जब आप मृत्यु में विश्वास करते हैं तो क्या आप पुनर्जन्म को भी मानते हैं ?

उत्तर—जन्म और मृत्यु की तो जोड़ी है। जब तक मरना है तब तक जन्मना है। नव-नव जन्म रुकने वाला नहीं है। इससे पुनर्जन्म न कहकर उसे सतत और निरन्तर जन्म कहा जाय तो मुझे और भी सन्तोष होगा। सतत मरण और सतत जन्म, जीवन का यही रूप मुझे समझ आता है।

प्रश्न—तो क्या आप योनियों पर भी विश्वास करते हैं ?

उत्तर—तरह-तरह के प्राणी सामने देखता हूँ न। तब उतनी ही योनियाँ मानने से बचने की कहाँ आवश्यकता है ?

प्रश्न—क्या मृत्यु स्थायी रोग है ?

उत्तर—तो जन्म भी रोग है। इस तरह जन्म-मृत्यु की श्रृङ्खला ही रोग हुई। और यह बात ठीक है भी। जन्म-मृत्यु से हमें निस्तार पाना है। वह स्वयं जन्म और मृत्यु के द्वार में से होगा। लेकिन तब

व्यक्तित्व से भी छूटना हो जायगा। मुक्त एक भगवान् हैं। यानी, मुक्त होकर हम 'हम' रहने की आवश्यकता में नहीं रहेंगे।

प्रश्न—आपके कहने का तो तात्पर्य यही हुआ न कि मृत्यु और जन्म रोग हैं, एवं इनका रोगी मुक्ति द्वारा इनसे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है?

उत्तर—नहीं, रोग तो इस तरह व्यक्तित्व ही हुआ। जन्म से व्यक्तित्व शुरू होता है, मृत्यु में एक तरह वह समाप्त होता है। यों देखें तो रोग जन्म ही ठहरता है; बल्कि मृत्यु में रोग की निवृत्ति और निर्वाण देखा जा सकता है। मृत्यु रोग है इसलिए कि जन्म सदा मृत्यु-पूर्वक होता है। अन्यथा मुझे जन्म से भीति और मृत्यु में प्रीति उपयुक्त दीखती है।

छुटकारे का नाम मुक्ति है। वह स्वयं मुक्ति द्वारा प्राप्त होगी इसका कुछ अर्थ ही नहीं बनता। हाँ, मृत्यु द्वारा वह प्राप्त की जा सकती है। मृत्यु इस रूप में सदा मित्र है और होनी चाहिए। भगवान् की दया में ही वह हमें प्राप्त होती है।

प्रश्न—मृत्यु मुक्ति या छुटकारे का कारण होती है यह तो ठीक नहीं, कारण कि आपके अनुसार उसके पश्चात् पुनर्जन्म होता है?

उत्तर—मेरी मृत्यु में छुटकारा मेरा तो है ही। आगे जन्म की बात, सो भगवान् जानें।

प्रश्न—तो क्या आप यह नहीं मानते कि मनुष्य मरकर तुरन्त जन्म लेता है?

उत्तर—अपने को अपने मरने तक मैं जान सकता हूँ। उससे आगे जानने का काम मेरा नहीं है। वह तो भगवान् का है। क्या मैं अनाधिकार चेष्टा में पड़ूँ? उससे हाथ कुछ न आयगा। व्यर्थ बरबादी होगी।

प्रश्न—भगवान् तो स्वयं प्राणी को कर्मानुसार ही जन्म एवं

मुक्ति प्रदान करते हैं—क्या आप ऐसा मानते हैं?

उत्तर—भगवान् कैसे क्या करते हैं, इस पर रायजनी मैं नहीं कर सकता। नियम उन पर नहीं है। वह स्वयं नियम हैं। मृत्यु के बाद मुझे जन्म लेना ही होगा, यह शर्त रखकर मैं भगवान् के पास नहीं पहुँच सकता। मरने में यह तय कहाँ है कि फिर से 'मुझे' जनमाया जायगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि जन्म में मेरी ही इच्छा शेष है जो समझती है कि मरना मरना नहीं है, इत्यादि। मरने में अपनी कृतार्थता देख सकना मुक्ति की ओर उठना है। मरने के पार भी आकांक्षा रख कर हम मृत्यु में अपने लिए दुख ही पैदा करते हैं और कुछ विशेष तो उससे नहीं होता। मृत्यु आये तब मेरी कामना उसमें प्रतिरोध न बने, बल्कि वह तत्सम और तल्लीन हो—मुझे तो यही श्रेयस्कर और सत्य दीखता है। मृत्यु में भगवन्नाम और भगवत्-स्मरण ही परम श्रेय है। इससे अन्यत्र और अन्यथा कुछ भी नहीं।

प्रश्न—आप अपने वक्तव्य को और स्पष्ट करें। उसमें पारस्परिक विरोध भी दीखता है और वह अस्पष्ट है।

उत्तर—अस्पष्टता हो सकती है, पर विरोध दीखता हो वहाँ बताओ। यों तो हर जिज्ञासा और हर सत्य को शब्दों के विरोधाभास में से बढ़ना पड़ता है। फिर भी विरोध वहाँ होता नहीं है, आभास ही होता है।

प्रश्न—आप कर्म, पुनर्जन्म एवं योनियों को मानते हैं, किन्तु इसके साथ-ही-साथ भगवान् में अतिव्याप्ति द्वारा उनका निषेध भी कर देते हैं?

उत्तर—भगवान् में सब अस्ति नास्ति है। असल में भगवान् में से होकर ही जो है, है। भगवान् के आगे भी क्या कुछ और मानना शेष रह जायगा? अच्छा, माना कि कर्म है, जन्म है, योनियाँ हैं, सूरज-चाँद हैं, मैं-तुम हैं, देश-विदेश हैं और दूसरी अनगिन चीज़ें हैं। लेकिन वह सब होना क्या परम सत्ता के आधार से स्वतन्त्र है?

यदि है, तो हाँ, भगवत्-मान्यता में उसका प्रतिषेध है। तब वह निषेध ही परम सत्य बनता है।

लेकिन इन शब्दों से तुम्हारे निकट कुछ साफ नहीं होता होगा। यही समझ लेना काफी है, कि वस्तु-विश्वास भगवत्-विश्वास में कभी आड़े नहीं आता है। आड़े आये, तब वस्तु-प्रतीति को टूट जाना चाहिए।

कर्म-जन्म आदि सम्बन्धी मान्यताओं की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। उनकी स्थिति वहीं तक है, जहाँ तक मूल श्रद्धा से वे विरोधी नहीं पड़ते हैं।

प्रश्न—भगवत्-श्रद्धा में मृत्यु साधक है, क्या ऐसा मानना ठीक है।

उत्तर—होनी तो चाहिए। साधक या बाधक बनाने वाले अन्त में हम ही हैं। भगवान् की ओर से हमें दोनों तरफ की सुविधा है। फिर भी मृत्यु को सामने लेकर साधारणतया हमें अपना अहंकार व्यर्थ लग आता है। यह तो सामान्य अनुभव की बात है। और यह उपादेय है।

प्रश्न—क्या मृत्यु, और भगवत्-श्रद्धा के मूल में अवस्थित भय मनुष्य-जीवन को नियन्त्रण में नहीं रखता है। अगर ऐसा है तो हमें कहना चाहिए कि मनुष्य के समस्त कार्य भय से प्रेरित हैं ?

उत्तर—हाँ, भय अनिवार्य है। वह भय सात्विक होकर सहायक होता है। इस तरह वह प्राणों की पूँजी और जीवन की प्रेरणा बन सकता है। वह हमें प्रार्थना का बल देता है। भगवान् का भय जगत् के प्रति हमें निर्भय बनाता है। हमारे अहंकार का हरण करता है और हमको आवश्यक नम्रता देता है। हमारी दृष्टि व भावना को वह विस्तार भी दे सकता है, क्योंकि उन्हें स्वार्थ से सीमित नहीं होने देता। धर्म और श्रद्धा के मूल में निश्चय ही एक भय है और वह विधायक है। केवल जड़ता का नाश ही हो सकता है जो उससे इनकार करे। अन्यथा

यह तो बड़ी कीमती चीज है।

प्रश्न—ऐसा भी देखा गया है कि कभी-कभी यह भय मनुष्य को जड़ भी बना देता है। इस प्रकार वह उससे जीवन को जीवन नहीं रहने देता। क्या ऐसा नहीं होता?

उत्तर—हाँ, ऐसा होता है। लेकिन तब, जब हम उस भय को स्वीकार नहीं करते बल्कि उससे लड़ना चाहते हैं। उसका सत्कार न कर तिरस्कार करना हमारे लिए अनिष्ट हो, तो इसमें आश्चर्य क्या है।

प्रश्न—मृत्यु के भय की अधिकता भी तो अकर्मण्य व्यक्ति को किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देती है। इससे तो आप सहमत हैं?

उत्तर—व्यक्ति अकर्मण्य जनमता नहीं है, बाद में ही बनता है। जिन कारणों से बनता है, उनमें मैं इस सात्विक भय को अस्वीकार करने की हठात् चेष्टा भी मानता हूँ। हाँ, बहुत ज्यादा मृत्यु पर ध्यान देना कोई अच्छी बात नहीं है। लेकिन इस अतिरिक्त ध्यान के नीचे भी किंचित् अस्वीकृति की वृत्ति हो सकती है। मृत्यु का एक घटना के रूप में सहज स्वीकार हमें केवल नम्र और निरहंकारी बनाएगा, निश्चेष्ट नहीं बनाएगा। हममें कौन नहीं जानता कि सबको एक दिन मरना है। फिर भी इस ज्ञान से निश्चेष्ट तो हम नहीं हो पाते। अकर्मण्यता और कर्म-विमूढ़ता जिसका परिणाम है, उसमें मैं भगवान् का भय नहीं, बल्कि उस भय का अस्वीकार कारण देखता हूँ।

प्रश्न—मृत्यु के भय का अस्वीकार किस प्रकार अकर्मण्यता का कारण हो सकता है?

उत्तर—अकर्मण्यता प्रकृति नहीं है, इसलिए वह विकृति का परिणाम है। प्रकृति सतत परिवर्तनशील है, गतिशील है। रुकना वहाँ है ही नहीं। सतत स्पन्दन और विहरण है। जीवन तो और भी अमोघता से यह है। प्रकृति में जड़ और जड़ता के लिए हम अवकाश देख भी लें, जीवन में उसकी ज़रा गुन्जायश नहीं है। फिर जो अकर्मण्यता आती है सो क्यों? इसका कारण यही हो सकता है कि कुछ

हमको एक दिशा में खींच रहा होता है, दूसरा उतने ही बल से दूसरी दिशा में। परिणाम उसका होता है, यथावत् स्थिति। अज्ञात और अनन्त का भय चेतना को एक ओर ठेलता है, तो इधर हम अपनी अहंता में उसे दूसरी ओर चलाने के आग्रही होते हैं—फल होता है गतिहीनता। इच्छाओं के द्वन्द्व में से निष्क्रियता उपजती है। कामना की शान्ति गति की समाप्ति नहीं है। कारण, गति नैसर्गिक है, सहज है, अनिवार्य है। वह होने की परिभाषा है।

प्रश्न—तो आपके कथनानुसार मृत्यु में अच्छाई अत्यधिक है। फिर प्राणी-मात्र उस अच्छाई से क्यों भय खाते हैं?

उत्तर—अत्यधिक में अति शब्द का योग ठीक नहीं है। सही और उचित मात्रा में ही वहाँ अच्छाई है, अति मात्रा में नहीं। मात्रा की अति सदा इस ओर से अर्थात् व्यक्ति की ओर से होती है।

अच्छाई का भय नहीं होना चाहिए, यही आशय न? तो बालक को माँ का भय क्यों होता है? कारण, अच्छाई के अतिरिक्त भी कुछ है जिसको बालक अपना बैठा है। जबकि माता के पास बालक के लिए हितकामना के सिवाय कुछ भी नहीं है।

हममें से कौन कह सकता है कि हम अपनी अच्छाई के सिवाय कुछ भी और नहीं चाहते। नाना पदार्थों में हमें आसक्ति है। ऐसी अवस्था में उसमें अच्छाई होने पर भी मृत्यु का हमें भय लगता हो तो इसमें अनहोनी बात क्या है।

अब श्रद्धा की ही दृष्टि हो सकती है, जो उस भय को कीमती मानकर उस मृत्यु नामक अच्छाई के हाथों अपने को पूरी तरह सौंपने को कह दे।

प्रश्न—कुछ दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की राय है कि मृत्यु को जीता जा सकता है। आपके इस पर क्या विचार हैं?

उत्तर—मेरे मन में वह स्पृहा नहीं है। आदमी अमर हो तो देवता को मर्त्य बनाना होगा। नहीं, वैसा सोचना मेरे लिए आवश्यक

नहीं है।

प्रश्न—क्या मृत्यु को जीतने के विचार में कोई श्रेय नहीं है?

उत्तर—श्रेय अवश्य हो सकता है। हम उस रास्ते से मृत्यु के साथ समझ का सम्बन्ध बिठा सकते हैं, यानी उसके साथ तर्क-संगत विवेक का सम्बन्ध बना सकते हैं। यह भी स्वीकृति की पद्धति है। ऐसे हम जीवन को अधिक पूर्णता के साथ जाने के काबिल हो सकते हैं और जीवन को, उसके स्वास्थ्य के नियमों को, उसकी मर्यादाओं और आवश्यकताओं को अधिक यथार्थता से समझ सकते हैं। चिन्तकों एवं वैज्ञानिकों का इस दिशा में प्रयास बिलकुल व्यर्थ और अनिष्ट नहीं है। यह धारणा असत् होने पर भी कि कभी व्यक्ति की मृत्यु अनावश्यक हो जावेगी, उस धारणा के आधार पर किये गये सब आविष्कार या ज्ञान-विज्ञान तिरस्करणीय नहीं ठहरते। हम धरती को ठोस मानकर मकान बनाते और उसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी रह लेते हैं। यह बात कि धरती असल में ठोस नहीं है, क्या मकान बनाने और हमारे उसमें रहने को गलत कर सकती है? जानता हूँ कि वैज्ञानिक लोग इस शरीर की मशीन को इतना दुरुस्त और चुस्त करने की कोशिश में लगे हैं कि उसे कभी टूटना न पड़े। आयु बढ़ाने के नियम खोजे जा रहे हैं और शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए कीमती अनुसन्धान हो रहे हैं। यह सब उचित ही है और एक हद तक लाभकारी भी। लेकिन उनको स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मृत्यु को अस्वीकार किया जाय। कम-से-कम मैं अपने लिए उसकी आवश्यकता नहीं देखता।

मुझे तो यह लगता है कि यह खबर कि "मैं कभी मर न पाऊँगा" मेरा आज ही हार्ट फेल कर सकती है। मृत्यु में निराशा है; लेकिन कोई अपने से निराश हो गया हो तो उसके लिए मृत्यु के सिवाय और आशा कहाँ रह जाती है? आगे पीछे हरेक के लिए अपने से निराश होना ही बदा है। ऐसी अवस्था में मृत्यु भी न रहे तो आशा का स्थान ही आदमी के लिए समाप्त हो जाता है।

आप सोचिए कि मृत्यु मिट जाय तो शहीद होने की सम्भावना भी मिट जाय न ? किन्तु शहीद ही क्या मानवता की निधि नहीं है ? वह निधि लुटे यह मैं कभी भी गवारा नहीं कर सकता। जीवनार्पण के लिए एकमात्र वेदी मृत्यु है। जीवनार्पण से बड़ी स्पृहा, उससे बड़ी अभिलाषा मनुष्य के पास नहीं है। वह वेदी ही नष्ट हो कि जिस पर समर्पण का अर्घ्य चढ़े और धन्य हो नहीं, यह नहीं हो सकता।

इसमें आप मृत्यु-पूजा देखें तो देख सकते हैं। जीवन से चिपकने के इतने घिनौने दृश्य रोज देखने पड़ते हैं कि लगता है कि मृत्यु-पूजा अनुपयुक्त धर्म नहीं है। निश्चय ही उसका अर्थ कभी भी मारना नहीं, बल्कि सदा मरने के लिए तैयार रहना है।

विविध प्रश्नों का समाधान

प्रश्न—अच्छा क्या और बुरा क्या, इसका निर्णायक कौन है? व्यक्ति या समाज? और वह निर्णायक कोई भी हो, उसके अच्छे-बुरे की सीमाएँ (=Limits) कैसे निश्चित करें?

उत्तर—अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इसका निर्णायक व्यक्ति ही हो सकता है। क्योंकि प्रश्न यह व्यक्ति का है।

समाज में जब अच्छे-बुरे की शंका गहरी हो जाती है तब उथल-पुथल देखने में आती है, जिसको राजनीतिक क्रान्ति कहा करते हैं। मामूली तौर पर वह शंका समाज-व्यापी नहीं होती, व्यक्तिगत या कुछ व्यक्तियों के समूह तक परिमित होती है।

समाज के अच्छे-बुरे की निर्धारित मर्यादा तात्कालिक और तद्देशीय आईने के दण्ड-विधान (=Land Code) में देखी जा सकती है। दण्ड-विधान की धाराएँ उस अच्छे-बुरे की निषेधात्मक सीमा-रेखाएँ हैं। इसलिए अच्छा क्या और बुरा क्या, यह प्रश्न व्यक्ति ही उठाता है। वह उसमें उसके भीतर से पैदा होता है। अतः स्वयं ही उसे निर्णायक होना पड़ेगा।

जब यह व्यक्ति का प्रश्न है तो अर्थ हुआ कि मैं ही सिर्फ अपने अच्छे-बुरे को जान सकता हूँ और कह सकता हूँ। तुम्हारे अच्छे-बुरे को जानने और कहने का दावा मैं नहीं कर सकता।

व्यक्ति अपना निर्णायक है—इसका मतलब ही यह होता है कि मैं या और कोई हरेक का निर्णायक न बने।

लेकिन इसके आगे एक बात न भूली जाय। वह यह कि यदि व्यक्ति अकेला हो तो उसमें कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। प्रश्न सम्भव ही तभी है जब वह निरा एक नहीं है, कइयों के बीच में एक है, यानी जन-समाज में है।

इसलिए व्यक्ति के अपने प्रश्न, उसके सब प्रश्न, समाज की अपेक्षा सुलझेंगे और खुलेंगे। समाज कसौटी है जिस पर व्यक्ति के सब समाधानों की परख होगी।

इस भाँति तुमने देखा न, कि "अच्छा क्या और बुरा क्या" यह प्रश्न मुझ से टल गया है। टलकर वह सब के अपने-अपने पास पहुँच गया है।

अब उसकी लिमिट। स्पष्ट है कि उसकी लिमिट अब भी खिंची-खिंचाई है। उसे खोजने कहीं भी जाना नहीं है। वह लिमिट हमारा पिनल-कोड "दण्ड-विधान" है।

हम हत्या करेंगे तो जेल पाएँगे। चोरी करेंगे तो जेल तैयार है। इस मामले में प्रश्न यह होता ही नहीं कि किन भावनाओं से हम यह काम करते हैं। वे काम ही हमारे अच्छे-बुरे की हद पर बैठे लाल-लाल सिग्नल हैं।

लेकिन मेरे अपने लिए तो भावना का ही पहला और आखिरी प्रश्न है। अर्थात्, व्यक्ति का दृष्टिकोण आवश्यक रूप में इससे भिन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से व्यक्ति-कर्त्तव्य और समाज की पुण्य-परिभाषा में संघर्ष और कभी विरोध भी हो जाता है।

इस संघर्ष की चरमावस्था का दृष्टान्त है—शहीद। शहीद अनिवार्यतया पवित्र व्यक्ति होता है। लेकिन तात्कालिक समाज की दृष्टि से वह असामाजिक व्यक्ति भी होता है। समाज उसे दण्ड देकर उससे

छुटकारा पाता है। पर हठात् वही व्यक्ति लोगों के जी में बस जाता है और अवतार तक माना जा सकता है।

पर वे लिमिट्स या सीमाएँ अन्तिम नहीं हैं। अवतार और शहीद अपने जीवन द्वारा ज्वलन्त रूप में इसी को प्रमाणित करने आते हैं, और उन सीमाओं को और भी आगे किस दिशा में बढ़ना चाहिए, यह दिखाकर चले जाते हैं।

प्रश्न—सुख-दुख क्या है? क्या सिर्फ कल्पना, यानी अपनी मानी हुई चीज? या इससे अधिक भी वे कुछ हैं? नापसन्द को आदमी पसन्द में किस प्रकार परिवर्तित करे? पाया गया है कि हरेक श्रेय प्रेय नहीं होता। इसी से इस तरह के श्रेय को पसन्द "प्रेय" बनाना क्या जरूरी है?

उत्तर—सुख-दुख को सिर्फ कल्पना नहीं कहा जा सकता। कल्पनाएँ जहाँ से उपजती-उगती हैं, सुख-दुख उन जड़ों को ही भिगो देते हैं। सिर्फ कल्पनाओं के बल पर सुख या दुख से बचना नहीं होता। और उनसे बचना सिद्धि भी तो नहीं है। असल सिद्धि तो उन पर काबू पाना है, उन्हें पचा जाना है।

इसलिए मैं तुम्हें कहूँ कि सुख-दुख से सच्ची छुट्टी तो कविता लिखकर, चित्र खींचकर या कुछ गाकर भी नहीं मिलती। थोड़े-बहुत अंशों में ये सब कला-व्यापार उनसे बचने की प्रक्रियाएँ हैं, उन पर काबू पाने के सच्चे उपाय नहीं हैं।

हरेक श्रेय प्रेय तो है ही, फिर भी यदि प्रेय नहीं मालूम होता तो समझना चाहिए कि हमारी प्रीति हमारे बस में नहीं है। कला की यही राह है। वह प्रेय की राह से श्रेय को अपनाती है। मैं तो मानता हूँ कि श्रेय को प्रेय रूप में भी पाना जरूरी है। ऐसा नहीं होगा तो हमें नीरस कायिक तपस्या के सिद्धान्त तक पहुँचना पड़ेगा। और वह सिद्धान्त तो मुक्ति-कारक नहीं ही है, प्रत्युत अनर्थकारक हो सकता है।

प्रश्न में यह भी है कि नापसन्द को पसन्द में किस तरह परिवर्तित

करें। किन्तु यह तो प्रश्न में ही गर्भित है कि वह नापसन्द नहीं है। नहीं तो उसे पसन्द में परिवर्तित करने का सवाल ही कहाँ से उठता? इसलिए मैं कह सकता हूँ कि इस भाँति जो आंशिक रूप में नापसन्द है, वह इस योग्य ही नहीं है कि उसे नापसन्द किया भी जाय। अर्थात् हम उसको समझेंगे तो नापसन्द करना छोड़ देंगे।

लेकिन प्रश्न में ध्वनि ऐसी मिलती है कि साहब, नीम के पत्ते हमारे लिए बड़े हितकारी हैं, पर लगते कडुए हैं। इच्छा तो हमारी है कि वे पसन्द आने लगें, पर मुँह में चलते ही नहीं, बेहद बुरे मालूम होते हैं। अब बताइए, क्या करें?

इसके जवाब में मैं कहूँगा कि उनके स्वाद में बुरे लगने की परवाह न करो। बहुत कडुवा मुँह हो जाय, तो पीछे से मिसरी खा लेना। अगर तुम्हारे मन में पक्का हो गया है कि नीम के पत्ते तुम्हें फायदा ही करेंगे, तो उन्हें छोड़ने की बात मुझ से आप सुनोगे भी नहीं। तब यह भी निश्चय है कि एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि उनकी कडुवाहट तुम्हें बिलकुल नहीं सताएगी। अर्थात् श्रेय, यदि पूरे मन से उसमें श्रेयता दीखती है, तो एक दिन प्रेय होकर ही रहेगा। इस प्रतीति में बीच की बाधाओं को धैर्य के साथ लाँघते चलना होगा।

प्रश्न—देश और काल के अनुबन्ध ही क्या संस्कृति कहलाते हैं? क्या आदमी इससे उबर सकता है? इससे ऊपर भी क्या उसकी सत्ता है? है तो वह कहाँ है?

उत्तर—यहाँ अनुबन्ध शब्द के भाव को मैं ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सका। देश और काल में व्यक्ति अवश्य है, लेकिन यह समझना भूल है कि वह उनसे परिबद्ध है। चित्र चौखटे में जड़ा होता है, लेकिन वह क्या चौखटे से घिरा हुआ है? क्या वह वहाँ बन्द है? ऐसा कहना तो चित्र की सच्चाई का अपमान करना है और चौखटे की लकड़ी को सब-कुछ मान लेना है। चित्र के लिए चौखटा है, उसके बीच में यदि चित्र न हो, तो चौखटा चूल्हे के काम भी आ सकता है और यह तो स्पष्ट है

ही कि चौखटे के बिना भी चित्र का जीवन खतरे से खाली नहीं है।

आशय यह कि मिनट-मिनट द्वारा बीतने वाला काल और इंच-इंच द्वारा नपने वाला देश हमारी चेतना और स्थिति की परिभाषा हैं, परिमाण नहीं। यों तो दरअसल हम शाश्वत में ही साँस लेते हैं और समग्र का ही स्पर्श पाते हैं।

आदमी देश और काल में जीता है—इसका असली अर्थ यह है कि वह देश और काल द्वारा अपने अन्तस्थ आनन्द का उपभोग करता हुआ उत्तरोत्तर शाश्वत की ओर बढ़ता है।

प्रश्न—(Behaviour) व्यवहार या आचरण से आदमी के निर्णय करने का जो तरीका मनोविज्ञानकों ने खोजा है, वह क्या (Hasty) जल्दबाजी का नहीं है? एक ओर से यों भी कहा जा सकता है कि आदमी सिर्फ बिहेविअर ही तो पकड़ पाता है और वह क्या जाने? क्या यह बात मानी जाय?

उत्तर—बिहेविअर से निर्णय करने के मनोविज्ञान-शास्त्रियों के तरीके को जल्दबाजी का तो मैं नहीं कहूँगा। शायद वह धीमा है। बेशक वह अपूर्ण है। लेकिन तरीके के दृष्टि-कोण से दूसरा और तरीका शास्त्रीय ढंग से सम्भव भी कहाँ हो सकता है? सब तरीकों को (आब्जेक्टिव) पर निष्ठ दृष्टि-कोण से चलना होगा। ऐसे न चलेंगे तो System तरीका भी वे न बन पाएँगे। जिसको प्रतिभा कहा जाता है, उसी को सर्व-सुलभ शास्त्र का रूप देना है कि नहीं? इसी पद्धति में अनुभूतिमय ज्ञान को पदार्थ-मय विज्ञान बनना पड़ता है। इसमें वस्तु की वास्तव सच्चाई कुछ कम अवश्य होती है, लेकिन उपाय भी और कुछ नहीं है। बिहेविअर की राह से पकड़ते-पकड़ते भी आदमी को नहीं पकड़ा जा सकेगा—यही तुम कहते हो न? मैं मान लेता हूँ। लेकिन, ऐसा, कौन-सा उपाय है जिससे भीतर का असली आदमी पूरी तरह पकड़ा जा सके? मैं मानता हूँ वैसा कोई शास्त्रीय उपाय न है, न था, न होगा।

हाँ एक अमोघ उपाय है और वह सर्व-सुलभ है। उसका नाम है, प्रेम। लेकिन प्रेम शास्त्रीय कहाँ है?

अतः वैज्ञानिक तरीकों की अपूर्णता के जानकार को भी उन तरीकों के प्रयोग और उपयोग से अपने को वंचित नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—क्या प्रेम घृणा के बिना सम्पूर्ण नहीं है? हरेक प्रेम के साथ जो घृणा लगी रहती है वह क्या अवश्यम्भावी है? मानवी प्रेम की चरम सीमा क्या होगी? तब क्या वह और दैहिक वृत्तियों से छूट सकेगा?

उत्तर—मानव-प्रेम के साथ जो घृणा चलती है वह एक प्रकार से वृत्त को पूरा करने के लिए है। बिना (Circuit) वृत्त पूरा हुए बिजली कहाँ चलती है। हाँ, व्यक्ति को साधारणतया जो प्रेम प्राप्त है। उसके साथ अप्रेम अवश्यम्भावी है। इस बात को हम अपने सामाजिक नातों में अत्यन्त स्पष्टता से चीन्ह सकते हैं। मेरा पुत्र कहकर मैं आवश्यक रूप में शेष और पुत्रों को अनजाने भी अपने से पराया बना देता हूँ। अपने पुत्र के प्रति राग की अतिशयता शेष पुत्रों के प्रति द्वेष रूप हो जाती है। राग-द्वेष अभिन्न जोड़ी है—जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है। इसलिए वह प्रेम, जिसे भरने के लिए घृणा आवश्यक है, कहना होता है कि शुद्ध प्रेम नहीं है। शुद्ध प्रेम वह है जिसे अपने से अतिरिक्त किसी और अवलम्बन की आवश्यकता न हो। किन्तु मानव-प्रेम शत-प्रतिशत वैसा शुद्ध हो नहीं सकता। वैसा शुद्ध प्रेम सत्य की भाँति आदर्श है, अतः अप्राप्य है, किन्तु आदर्श है, इसलिए हमें उसी को सामने रखना है। जिसमें मोह जितना ही कम है, घृणा-वासना जितनी ही कम है, वह उतना ही श्रेष्ठतर प्रेम है। श्रेष्ठतर कहने में यह आ ही जाता है कि वह अधिक व्यापक है।

संकीर्ण संकुचित प्रेम एक हद से नीचे जाकर पाशविक और घृण्य हो जाता है। वही उत्तरोत्तर व्यापक होकर दैवी कहलाता है।

प्रेम की चरम सीमा वहाँ है जहाँ व्यक्ति तन्मय हो जाता है।

ऐसी अवस्था में व्यक्ति प्रेम करता नहीं है, स्वयं प्रेम होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रेम नहीं होता, प्रेम में मनुष्य होता है। निस्सन्देह तब वह प्रेम और दैहिक वृत्तियों से छूट जाता है। दैहिक वृत्तियाँ प्रेम को स्थूल रूप देकर एक प्रकार से परिमाण में बाँधती हैं। पर प्रेम वास्तव में मुक्त है, निर्बन्ध है।

स्पष्ट है कि ऐसा प्रेम दो मानवों के बीच का पारस्परिक प्रेम नहीं हो सकता ? यह तो ब्रह्म-प्रेम सत्य-प्रेम ही हो सकता है।

प्रश्न—शान्ति-प्रस्थापन (व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी में) कैसे सम्भव है। क्या कलह-वृत्ति का नाश भी मानव में से कभी हो सकता है ? यदि नहीं, तो क्यों न कहा जाय कि शान्ति-प्रस्थापन की सब बातें बातें हैं, व्यर्थ हैं, लभ्य इनसे कुछ न होगा ?

उत्तर—पहली बात तो यह कि मैं मानता हूँ, शान्ति-प्रस्थापन सम्भव है। सम्भव ही नहीं, अनिवार्य है। उसको लक्ष्य की भाँति आगे रखकर ही जीने में कुछ अर्थ है, नहीं तो जीवन व्यर्थ है।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे सम्भव है, यह प्रश्न बहुत बड़ा है। अगर आज ही यह सुलझ जाय तो मैं या आप ज़िन्दगी के बाकी दिन किस बात को लेकर गुज़ारें ? इसलिए इस प्रश्न को तो फार्मूले से नहीं, जीवन के ज़ोर से सुलझाना होगा।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे सम्भव है, इसके लिए एक गुरु-मन्त्र हाथ लगा है। वह मन्त्र यह है कि शान्ति की प्रस्थापना में अपने भीतर से आरम्भ कर दूँ। (Let every one begin with himself) अपनी वृत्तियों में सामन्जस्य, ऐक्य का प्रस्थापन मैं कर सकता हूँ और मुझे करना चाहिए। समाज, राष्ट्र और विश्व सभी के शान्ति-प्रस्थापन में एक का यही सबसे बड़ा योग-दान हो सकता है।

कलह-वृत्ति का नाश मानव में से सम्पूर्णतया हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। यह विश्वास का ही प्रश्न है। मानव को पशु-तुल्य देखकर भी यह विश्वास अडिग बना हुआ है। क्योंकि मानव पशु-

तुल्य हो हो सकता है, पशु नहीं हो सकता। इस पशु-तुल्य और पशुता के बीच के बाल-बराबर अन्तर में ही मेरा वह विश्वास जड़ बाँधे बैठा है।

जब मैं कलह-वृत्ति का समूल नाश सम्भव मानता हूँ तब हाँ, एक चीज़ का नाश नहीं है। वह चीज़ है युद्ध। युद्ध को असम्भव बना दें, तो जीवन भी असम्भव ठहरता है। हम साँस लेते हैं, तो इसमें भी संघर्ष, इसमें भी हिंसा है। लेकिन इससे पहली बात खण्डित नहीं होती। वह इसलिए कि जीवन अलबत्ता युद्ध-क्षेत्र है। लेकिन समूचे युद्ध-क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र बनाया जा सकता है। मनुष्य का त्राण इसी में है। अर्थात् युद्ध किया जाय किन्तु धर्म-भाव से।

कर्म के क्षेत्र में कलह-हीन वृत्ति असम्भव नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ और चूँकि ऐसा मैं मानता हूँ इससे शान्ति-प्रस्थापन के सतत् प्रयत्नों की अचूक निष्फलता से भी मुझे निराश नहीं हो जाना होगा।

प्रश्न—यह तो माना कि काम और अर्थ (Sex and money.) को आज के ज़माने ने ज़रूरत से ज्यादा महत्व दिया है, पर क्या आप कोई व्यावहारिक (Practical) तरीके सुझा सकते हैं जिनसे उनका महत्व घट सके?

उत्तर—जिसको पूरे अर्थों में व्यावहारिक (Practical) कहें शायद ऐसा कोई तरीका इस वक्त मैं नहीं सुझा सकता। प्रैक्टिकल शब्द में ध्वनि आती है कि उपाय संगठित हो, सांघिक हो। उस प्रकार के संघ या संगठन की योजना पेश करने के लिए मेरे पास नहीं है। इस प्रकार का संकल्प (=Will) उत्पन्न हो जाय तो उस आधार पर संगठन भी अवश्य हो चलेगा। मेरा काम इस संकल्प को जगाने में सहायक होने का ही है। संकल्प जगा कि मार्ग भी मिला रक्खा है। The will shall have its way.

जैसा पहले कहा, यहाँ भी अमोघ उपाय यह है कि व्यक्तिअपने से आरम्भ करे। मैं मानता हूँ कि अब भी मानवीय व्यापारों को हम मूलतः

देखें तो उनका आधार काम और अर्थ में नहीं, किसी और ही अन्तस्थ वृत्ति में मिलेगा। उदाहरणार्थ परिवार को ही देखिए। परिवार समाज की इकाई है, शासन-विधान (= State) की मूल-पीठिका है। परिवार में सब लोग क्या काम और अर्थ के प्रयोजन को लेकर परस्पर इकट्ठे मिले रहते हैं? माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहिन आदि नातों के बीच में इस कामार्थ रूप प्रयोजन को मुख्य वस्तु मानना परिवार की पवित्रता को खींचकर नरक में ला पटकने के समान होगा। मैं कहता हूँ कि वह कामार्थी प्रयोजन का नाता दो को एक नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक वह दो को समझौते के भाव से कुछ समय तक पास-पास रख सकता है। किन्तु आपस में ऐक्य साधे बिना जगत् का त्राण नहीं। इससे कामार्थमयी इच्छाओं से ऊँचा उठे बिना काम न चलेगा।

अतः उपाय यह बना कि हम व्यक्तिशः अपने वैयक्तिक जीवन में इस प्रकार की संकीर्ण वृत्तियों को लेकर आगे न बढ़ें। इन वृत्तियों का सहसा लोप तो न होगा, लेकिन इतना हो सकता है कि उन वृत्तियों को लेकर हम सार्वजनिक विक्षोभ पैदा न करें। अर्थात्, जब हम क्रोध लोभ के वशीभूत हों, तो मानो अपने भीतर सकुचकर अपने कमरे में अपने को मूँद लें। अपने से बाहर जब हम आवें तब प्रेम-पूर्वक ही वर्तन करें।

दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ होता है कि यों तो हम पूरी तरह निःस्वार्थ नहीं हो सकते, पर स्वार्थ को लेकर हम सीमित रहें और सेवा-भावना को लेकर समाज में और सार्वजनिक जीवन में आवें। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, ये तीन व्रत हमें इस सिद्धान्त-रक्षा में मदद देंगे।

प्रश्न—परमात्मा क्या है? क्या वह निरी कल्पना का, बुद्धि का, हृदय का स्वनिर्मित विकार नहीं है? भय की भावनाओं पर समस्त धर्मों का प्रारम्भ हुआ, यह बात यदि सच है तो अब

सुबुद्ध मानव को पुनः उसी भयार्त आदिम ज्ञान-हीन जन्तु की ओर मुड़ने और वैसे ही बनने का ही क्या यह परमात्मा-पूजा-भाव नहीं है ?

उत्तर—परमात्मा क्या है, यह पूछते हो ? तो सुनो—जो है, परमात्मा है। मैं हूँ ? तुम हो ? तो हम दोनों जिसमें हैं वह परमात्मा है। हम दोनों जिसमें होकर दो नहीं हैं, एक हैं, वह परमात्मा है ।

नहीं, परमात्मा विकार नहीं है। उसको छोड़ने से, हाँ, शेष सब-कुछ विकार हो जाता है ।

विकार इसलिए भी नहीं है कि हमारी सारी कल्पना, हमारी सारी बुद्धि, हमारे सारे हृदय की शक्ति द्वारा भी वह निर्मित नहीं हुआ। हम उसका निर्माण नहीं कर सकते। कल्पना, बुद्धि, हृदय द्वारा हम उसको ग्रहण ही कर सकते हैं। उसकी प्रतीति को हम बनाते नहीं हैं, वह प्रतीति तो हमारे मन-बुद्धि पर हठात् छा जाती है ।

जो हमारे द्वारा निर्मित है वह बेशक हमसे दूसरे के लिए और हमारे काल से दूसरे काल के लिए विकार हो जाता है ।

लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्यों अथवा जातियों द्वारा उनकी पूजा-भक्ति अथवा, भय-विश्वास के संस्कारों द्वारा, जो रूप-गुणात्मक मूर्ति तैयार होती है, वह देवी-देवताओं की मूर्ति होती है। वे देवी-देवता बनते हैं इसलिए बिगड़ते भी हैं। परमात्मा इन सब में होकर ही इन सब से अतीत है ।

परमात्मा वह महासत्त्व है जिसमें सब एक हैं। उसमें, उसके द्वारा, उसी के हेतु से हम अपने देवी-देवताओं अथवा मत-मतान्तरों का निर्माण करते हैं।

हमारी ऐसी निर्मित मूर्तियों में, मत-धारणाओं में जब तक और जहाँ तक परमात्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा है, वहीं तक वे सत्य हैं, अन्यथा वे निस्सत्त्व पाखण्ड हो जाती हैं।

भय की भावनाओं पर धर्मों का प्रारम्भ हुआ, यह बात झूँठ

नहीं है।

लेकिन इसका मतलब यह क्यों न समझो कि भय की भावनाओं को लेकर ही निर्भयता सम्पादन करने का संकल्प आदिम मनुष्यों में जागा ?

भय उनके मूल में हो लेकिन निर्भयता की वृत्ति उन धर्मों के कलेवर को थामे हुए है। उनकी सहायता से यदि मनुष्य निर्भीकता की ओर, ज्योति की ओर, कर्मण्यता की ओर बढ़े तो क्या उपादेय नहीं है ?

उस प्रकार के भय को मैं जीवन के लिए अत्यन्त मंगलमय तत्त्व मानता हूँ। सच्चा ज्ञान उस भय के मूलाधारों की ओर गहरा ही ले जाता है, उसे मेट नहीं सकता। जो मानव व्यक्ति के चित्त में की इस बहुमूल्य ईश-कातरता पर धूल डालने की कोशिश करता है, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, वह नशा है, वह अहंकार है। अपने भीतर के छद्म-ज्ञान का वह गर्व है।

ज्ञान-हीन और बनने या बनाने की प्रक्रिया में ही परमात्म पूजा-भाव आता है, यह समझना भारी भूल है।

जब तक बुद्धि है तब तक व्यष्टि में समष्टि के प्रति, Microcosm (=अणु) में Macrocosm (=अखिल) के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण, एक तनाव, एक असह्य विछोह का चाव वर्त्तमान ही रहेगा।

वह विज्ञान बेचारा है जो इस एक परम सत्य-भाव को स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान वही असली है जो इस परम गम्भीर अनुभूति की ओर गहरा ले जाता है। महान् वैज्ञानिकों को देखो, यही प्रमाणित पाओगे।

जब मानव अनन्त विश्व के समक्ष आमने-सामने होता है तब उसमें जो उदय होता है—उस भाव को क्या कहोगे ? विश्व के प्रति व्यक्ति की इस दुरधिगम्य भावना को क्या कहोगे ?

मैं इसको धर्म कहता हूँ।

उस धर्म-भावना का खिंचाव जिसकी ओर है, उसको मैं परमात्मा कहता हूँ। उसमें भय आता है अवश्य, लेकिन उस भय को मैं शुभ कहता हूँ।

प्रश्न—आत्म-हत्या में बुराई ही क्या है? जब मैं सोचता हूँ कि मेरे जीने से न मेरा ही भला है न औरों का ही हो सकता है, तब गांधीजी के बछड़े मार देने के समान, मैं अपने देह को खत्म कर डालूँ तो इसमें हिंसा का पाप तो है ही नहीं उलटे सिद्धि ही अधिक है।

उत्तर—प्रश्न की भाषा से प्रगट होता है कि आप विश्वस्त हैं कि "उसमें हिंसा का पाप तो है ही नहीं, उल्टे सिद्धि ही अधिक है।"

मैं अपनी ओर से विश्वस्त हूँ कि उससे सिद्धि तो है ही नहीं, उलटे हिंसा का पाप अवश्य है।

यह इसलिए कि ऐसे सुविचारित आत्म-घात में यह गर्भित है कि कि अपना मालिक मैं हूँ। जीऊँ चाहे मरूँ मैं अपने को मार भी सकता हूँ।

पर यह गलत है। अपना सिरजनहार मैं नहीं हूँ। इसलिए अपने मारने का दम भी मैं नहीं भर सकता।

"मेरे जीने से न मेरा ही भला है और न औरों का ही हो सकता है" यह सोचने वाला व्यक्ति अपने को निराशा के नशे की सुस्की दे रहा होता है। यह विचार एक प्रकार का विष-सेवन है, विषय-सेवन भी है। निराशा का जन्म प्रच्छन्न अहंकार में से होता है। "मैं जगत् का उपकार कर रहा हूँ," यह सोचना जितना गलत है उतना ही गलत ऊपर के प्रकार का विचार भी है। दोनों के भीतर प्रमाद है, अहं-भाव है।

गांधीजी के बछड़े मारने की बात तो गांधीजी की है। पूरा समाधान तो इसका वही करेंगे और उन्होंने किया भी है। लेकिन उन्होंने बछड़े को इसलिए नहीं मारा कि उसका किसी प्रकार भी उपयोगी होना असम्भव हो गया था। बछड़े को मारने का समर्थन उन्हें अपने भीतर

से इस विचार में से मिला कि मरना तो उसका अवश्यम्भावी है। वह अब मरा, अब मरा तो हो रहा है, स्वयं मारकर उसे एक अपार कष्ट से मुक्ति अवश्य दी जा सकती है। अर्थात् गांधीजी का हेतु उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार न था वरन् उसका वास्तव हेतु प्रेम-भाव ही था।

जहाँ प्रमाद है, अहंकार है, वहाँ पाप है। अपघात में, विशेषकर प्रस्तुत प्रश्न में दिखाए गये उदाहरण में, विचार का प्रमाद दीखता है। इसलिए उसमें हिंसा है, ऐसा मैं मानता हूँ।

सिद्धि की बात मेरी समझ में नहीं आती। इस अनादि काल से चले आते हुए अनन्त विश्व में एक व्यक्ति कितनी घड़ी पहले मर गया—यह अपने-आप में उस विश्व के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्न मुझे बिलकुल नहीं मालूम होता। इस भाँति अपने को अनुपयोगी समझने वाला एक व्यक्ति अपने को मार कर सृष्टि में सचमुच किसी उपयोगी की, किसी लाभ की सिद्धि दे जाता है, ऐसा मैं नहीं सोच सकता। दर-असल उस निगाह से प्रश्न पर विचार करना मेरे लिए अशक्य है।

सत्य

प्रश्न—सत्य क्या है और उसका धर्म क्या ?

उत्तर—सत्य सत् का भाव है। अर्थात् वह स्वयं में धर्म है। या यों कहा जा सकता है कि जो है, जो भी सत् है, उसका धर्म सत्य है।

इस भाँति सत्य का धर्म क्या है, यह पद निरर्थक बनता है।

पर शायद प्रश्न का आशय हो कि उस सत्य का स्वरूप क्या है, है, स्थिति क्या है, कार्य क्या है ?

तो इस अर्थ में मैं कहूँगा कि सत्य सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह (=सत्) है, वह जीता (=चित्) है, वह लीलामय अर्थात् गति-

परिवर्तनमय (=आनन्द) है।

ऐसा जो सत्य उसे ईश्वर भी कहो।

प्रश्न—सत्य का व्यक्त रूप (=Manifestation) ही संसार है किन्तु सत्य स्वयं में पूर्ण और निरपेक्ष है और संसार ऐसा नहीं है। यह कैसे ?

उत्तर—सत्य सम्पूर्ण है। हमारा ज्ञात और ज्ञेय और अज्ञात और अज्ञेय सब उसमें समा रहा है।

जो उसका ज्ञात और ज्ञेय रूप है, संसार हम उतने ही को कहते हैं। व अपूर्ण है, क्योंकि उसमें अज्ञात समा नहीं सकता।

अज्ञेय और ज्ञात में कोई विरोध नहीं है। दोनों एक हैं। अज्ञेय यदि पीछे नहीं है, तो ज्ञात झूठा हो जाता है और अगर ज्ञात होकर कोई भी उसका पक्ष सामने नहीं है तो ऐसा अज्ञेय भी निरर्थक हो जाता है।

एक समूचे सत्य-तत्त्व का ज्ञात किनारा संसार है। अपूर्ण तो वह नहीं है, क्योंकि जिसको यह सूचित कर रहा है वह सम्पूर्ण है। वह तो एक सामना (=Fornt) भर है। पर उस सम्मुख पर ही ध्यान रक्खें तो उसे अपूर्ण हो जाना ही चाहिए। ऐसे वह संसार अपूर्ण है ही। एक प्रकार से यह अपूर्णता उसकी विशेषता है और सत्य की सम्पूर्णता में वह बाधा तो किसी प्रकार है ही नहीं। वह तो बल्कि उसी सम्पूर्णता को और भी सिद्धि और अनिवार्य बनाती है।

प्रश्न—आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए ?

उत्तर—आत्मा अपने स्वभाव में परमात्मा का तादात्म्य अनुभव करे, यही उसको इष्ट है। इसके अतिरिक्त किन्हीं और शब्दों में इस स्थान पर उस आत्म-धर्म को कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभूति, आत्मा के तीन कार्य हैं। क्या विशुद्ध सत्य की अवस्था में भी तीनों कार्य मौजूद रहते

हैं ? यदि नहीं तो उनका विकास कैसे होता है और सृष्टि के विकास के साथ उनका क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—व्यक्ति में आपके कहे मुताबिक जो त्रिविधिता है, वह ऊपर जाकर नहीं रहती। संकल्प, चिन्तन और अनुभूति ये क्रियाएँ सत्य में असम्भव हैं।

मानव में इसीलिए सम्भव हैं और उपयोगी हैं कि उसमें अभी सत्य से अन्तर है।

कैसे इन शक्तियों का विकास हुआ, इसका मूल हेतु तो यह है कि व्यष्टि को समष्टि के साथ एकाकारता खोजनी है। उसी विस्तार के आयास ये शक्तियाँ और क्रियाएँ व्यक्ति में प्रादुर्भूत होती हैं।

सृष्टि के विकास के साथ उनका बहुत घना सम्बन्ध है और वह इसलिए कि असल में सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के मानव बनाने में फलित होता है। जैसे अच्छा फल अच्छे वृक्ष की सफलता है, वैसे ही विस्तृत चेतना-प्राप्त मानव उत्पन्न करना सृष्टि की सफलता है। ये तीनों क्रियाएँ उसके उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करती हैं।

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभूति के उत्तरोत्तर विकास में क्या कोई क्रम है।

उत्तर—विकास में जो क्रम मैं देख पाता हूँ उसमें, ये शब्द तीन होकर कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचाते। असल में हिन्दी में इन तीन शब्दों का कोई मान अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं है। आम भाषा में तीनों बहुत पास-पास के अर्थ के बोधक होते हैं। वैज्ञानिक भाषा में में अभी इन शब्दों का ठीक वजन बनने में नहीं आया है। इससे आपके मतलब लायक जवाब मैं क्या दूँ ?

प्रश्न—संकल्प, चिन्तन और अनुभुति से मेरा अभिप्राय आप Willing, Thinking और Feeling से समझिए।

उत्तर—मैं समझा। लेकिन यह प्रश्न शास्त्रीय अधिक हुआ। क्या वह आपके मन का है ? वह प्रश्न इस जगह विशेष स्पष्टता या सहायता

देने में काम नहीं आ सकता।

Feeling प्राथमिक भाव है। वह बचाया नहीं जा सकता। उसमें जब कुछ विचार भी आ मिलता है, तो उस भाव में संकल्प की दृढ़ता मालूम होती है। जब उसमें विचार का प्राधान्य होता जाता है, और भावना गौण पड़ती जाती है, तब उसको Thinking कह दीजिए। ये एक ही प्रवाहित भाव की तीन श्रेणियाँ हैं। Feeling बिलकुल जरूरी है, और अनिवार्य है। सच्चा Willing Feeling की जमीन पर ही हो सकता है। और Thinking भी तभी सतेज और सवेग होगा जब वह परि-पूर्णता में से जागता है। अभाव-सय प्रतिक्रिया में से नहीं। संकल्प-हीन, भावना-हीन विचार प्रमाद पैदा करता है। विचार-हीन भावना अविवेक को जन्म दे सकती है।

पर असल बात न भूलें। गंगा ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों अलग नामों से भी चीन्ही जा सकती है। हरिद्वार में वह त्रिवेणी नहीं है, प्रयाग में त्रिवेणी है और कलकत्ता में हुगली। इसी प्रकार इन तीन शब्दों के सहारों से जिस वास्तव और प्रवहमान और विकासशील तत्त्व को समझना है, उसे आँखों से ओझल हम न होने दें। वही असल है।

प्रश्न के अधिक शास्त्रीय होने में यह खतरा है। उससे जो साधन है वह साध्य मालूम होने लगता है। साधन के बारे में भी साध्य से कम सावधान नहीं रहना होगा। पर साधन को साधन ही समझते रहना योग्य है। नहीं तो जीवन के लिए शास्त्र नहीं, प्रत्युत शास्त्र के लिए जीवन का उपयोग होने लगेगा और वह अनर्थकारी होगा।

एक पत्र

पण्डित जी

इधर मैं दूर पड़ गया हूँ। आपका अखबार भी देखने का मौका नहीं आता। फिर आपकी लगन में मुझे भरोसा है। उसका प्रशंसक भी हूँ। आप निष्ठा-पूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ते ही चले जा रहे हैं। मुझे ख्याल न था कि फिर कभी टोक कर आपसे कुछ कहने का अवसर आयेगा। चलते आदमी को टोकने से लाभ कम होता है। फिर मैं कोई पंडित नहीं हूँ। वय में भी छोटा हूँ, अनुभव मे भी बड़ा नहीं हूँ। कहने का मेरा अधिकार कितना है? पर प्रवृत्ति-निवृत्ति-सम्बन्धी जो चर्चा चल पड़ी है और कुछ गर्मी और घबराहट पैदा कर रही है, एक मित्र ने पूछा कि उसमें मेरी क्या राय है। मैंने तब तक कुछ पढ़ा न था। अभी पढ़ा है। पढ़कर उस बारे में मेरा कुछ अभिप्राय भी बन सका है। मित्र का अनुरोध कि उसे प्रकट करना चाहिए। मुझे भी ऐसा लगता है और मैं यह पत्र लिखने की इजाजत चाहता हूँ, आपके प्रति सराहना और प्रेम-भाव के हेतु से ही। क्योंकि मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, इससे यदि अपने अधिकार मर्यादा को भी लाँघ रहा होऊँ तो क्षमा करें।

पहले मैं कुछ वह कहूँ जिसकी संगति शायद मामूली तौर पर यहाँ न दीखे पर जो बात जड़ की है।

लेखों-व्याख्यानों द्वारा जो काम आप कर रहे हैं, उसका रूप क्या

है ? व्यावहारिक धर्म-नीति और उसकी अपेक्षा प्रचलित समाज-नीति में सुधार-परिवर्तन क्या इन शब्दों में मैं उसे कह सकता हूँ ? मैं गलत तो नहीं हूँ ?

जो है उससे आप सन्तुष्ट हैं। जो चाहिए; उसे आप करना चाहते हैं। क्या चाहिए, यह आपकी बुद्धि आपके निकट प्रकट करती है। आप उसी 'चाहिए' को सामने रखकर अपना कर्तव्य चुनते और कार्य करते हैं।

यह ठीक है। सब ही ऐसा करते हैं। कर्तव्य कार्य की सृष्टि इसी प्रकार होती है। अपूर्णता इसी प्रकार सम्पूर्णता की ओर उठती है। व्यक्तिगत मानस इसी विवेक-पद्धति से समष्टि के प्रति उत्तरोत्तर व्यापक होता है।

मैं इसके लिए आपका कृतज्ञ होता हूँ कि आप तीव्रता से अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं और अपना कर्तव्य अत्यन्त स्पष्ट देखते हैं और अत्यन्त निष्ठापूर्वक उस पर चलते हैं। इस शक्ति के लिए मैं आपकी सराहना करता हूँ।

किन्तु मेरा [illegible] कि जो उपकार आपसे हो रहा अथवा किसी से होता है वह उ[illegible]न ही अनुपात में जितने कि आप, अथवा कि वह व्यक्ति, अपने प्रति निष्ठावान है। जितना जो अहंकारी है। उतना वह अधिकारी है। बुद्धि की तीव्रता उपकार भी करा सकती है, अपकार भी करा सकती है।

मैं जानता हूँ, आप आवश्यक रूप में इससे सहमत होंगे, क्योंकि कि मैं आप को जानता हूँ। निरहंकारिता के तत्त्व को किसी भी तर्क से या छल से टाला नहीं जा सकता।

वही है धर्म। इसी से शुद्ध पुरुषार्थ कर्म को धर्म में जलाते रहना है। कर्तव्य-कर्म है आत्मोत्सर्ग। जो उत्सर्ग-रूप नहीं है, वह उपयोगी दीख कर भी, शुद्ध नय से च्युत कर्म है।

यह दृष्टि बुद्धि द्वारा समझे हुए कर्तव्य-कर्म की मर्यादा निर्धारित

करती है। यह कसौटी है। व्यावहारिक धर्म इसी पर परख कर सिद्ध अथवा असिद्ध बनता है। इसी शाश्वत की अपेक्षा में अस्थायी किंचित् काल के लिए स्थायी बनता है।

इसीसे, मैं कहता हूँ कि जब-जब धर्म-तत्त्व की बात की जावे तब-तब मानो अपनी ही ओर मुँह करके की जा सकती है। जो बाज़ार की ओर और समाज की ओर मुँह करके धर्म-चर्चा और उसका प्रचार करते हैं वह आत्मोत्सर्ग नहीं, मूलतः अर्थ-सेवन करते हैं। वह च्युत कर्म करते हैं। वह धर्म की अवमानना करते हैं।

आज जो मुझे भय है वह यही कि उस प्रतिदिन होती हुई धर्म की अप्रभावना देखकर आप के मन में जो क्षोभ होता है उसे झेल न लेकर आप ख़र्च कर पड़ते हैं। निकल पड़ते हैं ललकार के साथ तोड़ने के लिए। और परिणामतः वही कर चलते है; जो आप चाहते हैं, न हो।

क्षोभ दान की वस्तु नहीं है। वह अर्घ्य है जो हमें औरों से मिले तो स्वीकार्य हो, अन्यथा हम उसे नहीं दे सकते। वह पी जाने के लिए है। उसमें से शक्ति उत्पन्न होगी। जो गर्मी के रूप में हमें मिलता है, उसे गर्मी के रूप में ही फेंक देना पौरुष और धर्म नहीं है। उसे अपने भीतर की साधना से प्रकाश बना कर देना होगा। अन्यथा नहीं।

क्षोभ मनुष्य को खाता है। जो उसको खाते हैं वे अमृतजीवी होते हैं। आप तो सब धन्धा छोड़कर वही बनने निकले हैं। मेरी अभिलाषा है, वही आप हों।

मैंने आरम्भ में कहा कि 'जो है' उसके प्रति असन्तोष 'अमुक चाहिये' इसकी कल्पना पैदा करता है। फिर मनुष्य को बुद्धि मिली है। वह रूप-परिभाषा देने का यत्न करती है। सद्बुद्धि विवेक-रूप है। केवल बुद्धि विवाद-रूप है। विवेक में किसी महत्त्व की अपेक्षा है। विवेकवान् व्यक्ति आग्रही कम, जागृत अधिक है। वह धर्म के मार्ग में शोधक है, यात्री है। जो उसकी पथयात्रा में आवश्यक और साधक नहीं

है, उससे उलझने का अवकाश उसे नहीं है। विवाद उसे अत्यन्त अप्रिय होगा क्योंकि उस मुक्ति के राही को राह लम्बी तय करनी है।

किन्तु बुद्धि को अपना विलास भी प्रिय होता है। जो धर्म-गत नहीं है वह बुद्धि स्थूल आधार पकड़ती है, वह अर्थ को पकड़ती है। अन्वयार्थ, भावार्थ, द्रव्यार्थ, आदि-आदि अनेक अर्थ। इस भाँति वह अपने लिए भी, और दूसरों के लिए भी विकल्प पैदा करने में रस लेता है।

बात यह है कि आपकी-सी बुद्धि की प्रखरता के प्रतिभावान् व्यक्ति मैंने कम देखे हैं। आप खूब ही लिखते हैं, बोलते भी खूब ही हैं। पाठक और श्रोता की सुधबुध हर ले सकते हैं। आप चमत्कार-सा पैदा कर देते हैं।

लेकिन धर्म के विषय में ललकार से अधिक प्रेम उपयोगी है—इस बारे में मेरे मन में तनिक भी सन्देह नहीं है। जो तत्त्व के विषय में और सत्य के विषय में इतना निर्भ्रान्त है कि विवाद को निमन्त्रित करता और उसी द्वारा उसे प्रचारित और प्रतिष्ठित करने में दत्तचित्त है, वह सन्दिग्ध धार्मिक है। वह एकांगी सत्याचारी है।

प्रखरता धर्म अर्थात् सत्य-शोध-चर्या के क्षेत्र में अत्यन्त अविश्वसनीय वस्तु है। जो प्रखर-प्राबल्य के बल से आज डिक्टेटर बना है, धर्म की और मुक्ति की राह में तो उसे वह बल तज कर ही चलना होगा। और मैं कहता हूँ कि इस त्याग से उसका बल बढ़ेगा ही, चाहे वह चमत्कारशील कम दीखे।

व्यक्ति की दृढ़ता पत्थर की दृढ़ता से भिन्न वस्तु है। वह कहीं अमोघ है। व्यक्ति इसीसे स्टील बन सका है और पहाड़ तोड़ सका है।

वह दृढ़ता इसीसे अतोल है कि उसमें लचक है, वह कठोरता नहीं है। उसमें सत्य की विविधता है। उसकी दृढ़ता संकल्प की दृढ़ता है। संकल्प का मूल्य प्रेम है। प्रेम भावना है। मनुष्य आत्मा है। आत्मा है, इसी से कौन वज्र उससे कठोर हो सकता है, क्योंकि वह उसी तथा

आर्द्र भी है।

जिस दृढ़ता को सर्वशः प्रेम का बल नहीं धारण कर रहा है, जो एक-ही साथ मृदु भी नहीं है, वह धार्मिक दृढ़ता नहीं है, इसलिए वह अखण्डनीय नहीं है। आप के लेखों में शुद्ध धार्मिक दृढ़ता है, ऐसा आश्वासन मुझ को नहीं होता। उस की ललकार दर्प जगायेगी और जगा रही है। और इसलिए मैं पक्के विश्वास से कहता हूँ कि वह अविजेय नहीं है, अखण्डनीय नहीं है।

मैं खंडन को व्यर्थ समझता हूँ। जीवन अपने स्वभाव से ही प्रति-क्षण मृत्यु को खंडित करता रहता है। लेकिन जो जीवन मृत्यु से सीधा खंडन का नाता ठानता है वह स्वयं उसका ग्रास बनता है।

किन्तु आप एक (यानी, अपने) दृष्टिकोण से देखे गए दृश्य को, इस भाँति जाने गए ज्ञान और लिखे गए लेख को अखण्डनीय प्रगट करके प्रेरणा देते हैं कि दूसरा भी ऐसी ग़लती करे।

पर हम आंशिक सत्य ही जानते और जान सकते हैं। और वह आंशिक सत्य प्रतिक्षण अधिकाधिक उद्घटित होते हुए सम्पूर्ण सत्य के हाथों पहले ही से खण्डित रखा है। आज की आप की बौद्धिक-स्थिति परवर्ती स्थिति के समक्ष आप ही नतमस्तक है।

और वह सत्य जो अंश की सत्यता को भी धारण किये हुए; आत्मा-मय है। वह अनुभूति-मय है, भावना-मय है। मानवगत, समाज-गत होकर वह सत्य अहिंसा, यानी प्रेम, हो जाता है।

प्रेम ही जिसकी कठोरता और आवश्यकता को धारण नहीं किये हुए है वह कथन, चाहे उसका उत्तर किसी से भी न बन पड़े, सत्य नहीं है। वह पहले से ही परास्त है।

आप देखें कि मैंने अब तक जो कहा उसकी तार्किक संगति जिस विषय की मीमांसा चली है उससे स्पष्ट नहीं है। ऐसा जान-बूझ कर है। मेरा कथन श्रीयुत......के लेखों के लिए तो और भी लागू है।

मेरा कथन इतना ही है कि तर्क-शुद्ध धर्मक्षेत्र से बाहर का व्यापार

है। आप बहुत उपयोगी बात कह रहे हैं, बहुत उपयोगी काम कर रहे हैं। तर्क-युद्ध के बिना नहीं चल सकते तो वह भी करें। आप सुधार चाहते हैं, मुबारिक। समाज की संस्थाओं की अनुपयोगिता दूर करना चाहते हैं—बहुत शुभ। कौन विचारवान् आदमी अपनी-अपनी दृष्टि से वह नहीं चाहता, और उसमें योग नहीं डालना चाहता? आप अपनी समस्त प्रतिभा इसमें डाल दें, सब लोग आपके कृतज्ञ होंगे। यह समाज के लाभ की बात है, समाज का समझदार अंश आपका साथ देगा। जो न देगा, प्रेम के बल से, उसके विरोध और असहकार को आपको जीतना होगा, आदि। यह भी एक 'हीरो' का काम है।

लेकिन इस तरह के सुधार के काम की ज़िम्मेदारी लेकर आप इस निर्णय की ज़िम्मेदारी से अपने को मुक्त समझें कि सत्य क्या है, धर्म क्या है, जैन-धर्म कितना शुद्ध है अथवा कितना अशुद्ध आदि—तो इसमें क्या कुछ आपको विशेष बाधा है? मैं यही आपसे कहता हूँ।

मैं नहीं मानता, धर्म और व्यवहार दो अलग चीज़ें हैं। लेकिन व्यवहार और दर्शन दो पृथक् वृत्तियाँ अवश्य हैं। वे सदा से दो हैं, सदा दो रहेंगी, दार्शनिक अकुशल व्यवहारी होते हैं, व्यवहारी कम दार्शनिक होते हैं। जहाँ दोनों में साम्य और सामन्जस्य होता है, वह है धर्म। वह धर्म पूरे व्यक्ति को ढँकता है। उस धर्म पर विवाद छेड़ा ही नहीं जा सकता। उस धर्म को लेकर उस समय तक मौन नहीं टूटता, जब तक परस्पर जिज्ञासा का सम्बन्ध न हो।

मैं कहता हूँ कि अब तक आपका कोई लेख मैंने उस धर्म के तल तक उतरता नहीं देखा, वह ऊँची बुद्धि के स्तर से लिखा जाता है, और तब मुझको प्रतीत हुआ है कि आप बुद्धि से लौकिक और व्यवहार से दार्शनिक हैं।

और उस धर्म के तल तक आपका कथन उठ गया हुआ मुझे नहीं लगता इससे अनुभव होता है कि आप बुद्धि से दार्शनिक और मूलतः अभी तक व्यवहारी हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि इन दोनों के सामञ्जस्य का धरातल न विचार है, न कृत्य है—जहाँ दोनों एक होते हैं वह है व्यक्तित्व—वह है भीतरी आत्मा, जो वाणी और कृत्य दोनों ही में व्यक्त होती है।

और जो इस स्व-पर-कल्याण-कारक धर्म को पकड़ता है वह उत्तरोत्तर, स्थूल दृष्टि से, निवृत्तिमय होता चलता है। निवृत्ति का उपदेश उसके लिए नहीं है, उसकी शर्त ही निवृत्ति है।

क्या मैं मानूँ कि उस मज़दूर से जो आठ घण्टे कारखाने में और उसके ऊपर चार घण्टे और कुछ अपने बड़े परिवार की आमदनी बढ़ाने के लिए काम करता है, उस मज़दूर से आप कम प्रवृत्ति-दत्त हैं? मैं जानता हूँ कि आप जब दिल्ली में मेरे यहाँ-ठहरे थे आपके प्रवृत्ति-पूर्वक बोलने और लिखने के कुल घण्टे मिलाकर मुश्किल से एक दिन में तीन या चार होते होंगे; लेकिन यह जानकर भी मैं नहीं कह सकता कि आप प्रवृत्ति-हीन हैं और इस दिशा में अपराधी हैं। 'प्रवृत्ति' की अपेक्षा तो यह कह ही नहीं सकता।

लेकिन, उपयोगिता की अपेक्षा मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि आप अधिक योग्यता और अधिकार-पूर्वक समाज के और मानवता के, उस मज़दूर की तुलना में, अधिक गण्य-मान्य सदस्य हैं। मैं यह कहता हूँ और इसमें कोई अनुपयुक्तता नहीं देखता।

क्यों?

क्यों, इसलिए कि जो जीवन का महत्त्व स्थिर करने वाली वस्तु है, वह और है। प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्दों के सहारे हम उसी जीवन-तत्त्व को पकड़ना और समझना चाहते हैं।

आप उस गड़बड़ को अनुभव कीजिये कि जो अनजान में आप पैदा कर देते हैं, और जो आपमें भी है। इसी से जितना मत-भेद उत्पन्न होता है, उतना फल उत्पन्न नहीं होता।

आप धार्मिक-तल पर बात नहीं कहते। उस तल पर शब्द, अपने आप अपूर्ण होकर भी, विवाद उपस्थित नहीं करते, कुछ पूर्णता का

बोध उपजाते हैं।

परिणाम यह है कि निवृत्ति-प्रवृत्ति शब्द कभी कृत्य की अपेक्षा में, कभी मनोवृत्ति की अपेक्षा में आप प्रयोग करते हैं। 'दार्शनिक' की भाषा के उपयोग से आप सुधारक का लक्ष्य साधना चाहते हैं। कठिनाई यहीं आप पैदा करते हैं।

श्री·······की वृत्ति सामाजिकता की अपेक्षा स्पष्ट है। वह दार्शनिक ऐसे हों या वैसे हों, प्रवृत्त उसी ओर हैं। शब्द उनके लिए भाव की अपेक्षा से तो साधन हैं; पर लौकिक-लक्ष्य की अपेक्षा साधन का काम उन शब्दों से वह सँभलकर लेते हैं।

आप इस मामले में खुश-किस्मत हैं। शब्दों से, और उन पर, आप नहीं रुकेंगे। शब्द टूटें-फूटें भी तो क्या चिन्ता। और उनके भाव की कुछ अवज्ञा हो तो भी वह होने के सिवाय क्या उपाय है? यह आपका ढंग है। और मैं मान लूँ कि यह अधिक सचेतन है।

लेकिन मुश्किल तो यह है कि आप उस सुधार के उद्देश्य की वेदी पर माथा टेकते हैं, पर अपने भीतर के व्यवसायी दार्शनिक को वहाँ समर्पित नहीं करते। समर्पण न कीजिए, बलिदान कीजिए। समर्पण से पूर्णता आयगी, बलिदान से शक्ति आयगी। लेकिन आप आधा मोह पालते हैं, आधे से साधना साधते हैं। परिणाम इसका दुस्सह होता है। सोच-विचार वाले व्यक्ति को सहमत होकर भी आपसे असहमत होना पड़ता है।

बुद्धि के द्वारा आप सुधार चाहते हैं? तो वह कीजिए। दार्शनिक यही करता है। वह बुद्धि (Concepts) को संस्कार देता है। यह वर्तमान को तनिक अधिक तटस्थता से देखता है। वह शक्ति को कम, तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। वह गम्भीर, स्थायी सुधारक बनता है।

शक्ति के द्वारा आप सुधार चाहते हैं? तो वह कीजिए। विध्वंसक बनिए। विद्रोह को और सिर्फ़ उसी को आत्मा स्वीकार कीजिए। एकांगी हूजिए और प्रणपूर्वक एकांगी हूजिए।

संगठन और लोक-संग्रह के द्वारा सुधार चाहते हैं तो तरकीब से चलिए। समाज के नेताओं को खोजिए, मिलाइये, पंचायत कीजिए, कान्फ्रेंस कीजिए। आदि।

यह सभी कुछ करना चाहते हैं तो धार्मिक बनिए। इसके लिए कुछ न चाहिए, वेदना चाहिए। लोगों की आत्मा को पाइये और उनमें अपने को खो दीजिए। वास्तव मार्ग तो यही है। पर वह तो सम्पूर्ण समपर्ण, सम्पूर्ण बलिदान का है। वह साधारणतया बुद्धिमत्ता और चतुरता और शक्तिमत्ता का नहीं है। वह प्रेम की वेदना का है। वह बुद्ध, क्राइस्ट, गांधी का है और शायद महावीर का भी है।

लेकिन न सही धर्म। आधुनिकता (Modernism) धर्म को नहीं झेल पाती। तब बिलकुल इधर किनारे रहकर लौकिकता के मार्ग हैं, या विचार और कल्पना के मार्ग हैं। कवि बनिए, दार्शनिक बनिए, आलोचक बनिए, कार्यकर्ता बनिए, योद्धा बनिए, संग्रहकर्त्ता बनिए, सेवक बनिए। सभी मार्ग सुधार और उन्नति में पहुँचते हैं। वृत्ति शुद्ध चाहिए।

लेकिन संकट उपस्थित न कीजिए। उससे वर्णभेद और वर्गभेद और बुद्धिभेद उत्पन्न होता है, फल उत्पन्न नहीं होता।

जो धर्म पर अपना आश्रय रखता है वह जानता है कि एक अवस्था है जो वर्णनातीत है। वहाँ व्यक्ति का कोई व्यवसाय नहीं होता। हो सकता ही नहीं। वह अवस्था श्रेणीबद्ध नहीं हो सकती। उसी को संज्ञा दी गई—साधु।

वह साधु समाज का अंग है, पर वैसा ही अंग है जैसे हमारे भीतर का हृदय। वह सतत-व्यापार-शील है। हाथ-पैर दीखते हैं, उनका काम दीखता है। पर हाथ-पैर आराम कर सकते हैं, वे रोगी होकर फिर अच्छे हो सकते हैं—पर हमारे हृदय को तो एक घड़ी के लिए चैन नहीं है। क्योंकि वह रुका कि मृत्यु हुई।

दुनिया में नियम-कानून हैं, प्रस्ताव-विवाद हैं। स्टेट नागरिकों को

नियम देती है, नेता समाज को, बुज़ुर्ग बच्चों को। लेकिन वे नियम हृदय पर कितने लागू होते हैं? हाथ-पैर कोई बाँध सकता है, पर मन तो सब कहीं डोलता है। वह मन क्या अपने काम के सिवाय कुछ काम कर सकता है? वह तो रत्ती-भर चीज़ को इधर-से-उधर नहीं कर सकता। फिर भी हम जान लें कि जो होता है उसी से होता है। और मैं कहता हूँ, उसे नियम मत दीजिए, उससे नियम माँगिए।

मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप स्वयं साधु हों। यह नहीं कि ऐसा या वैसा कपड़ा पहनें। पर इस जगत् में कुछ आपका न हो, मात्र सद्-भाव की पूँजी ही आप की पूँजी हो। विवशता-पूर्वक लोग आपको महात्मा और साधु मानें। और तब माँगने पर आप साधु-संस्था का आधुनिक रूप दें। मेरी बहुत इच्छा है कि ऐसा हो। लेकिन क्या ऐसा है? और क्या आप मुझे मानने की आज्ञा देंगे कि ऐसा है? और अगर ऐसा नहीं है तो आपके शब्दों के पीछे सेवा और त्याग और आत्मा का बल और अधिक हो—क्या यह प्रार्थना करना शुभ न होगा।

निवृत्ति-प्रवृत्ति की चर्चा का आरम्भ बम्बई में दिये गए पर्यूषण व्याख्यान-माला के एक भाषण से हुआ था? वह भाषण गवेषणात्मक उतना नहीं, जितना आदेशात्मक और आलोचनात्मक है। मेरा अनुमान है कि उपस्थिति में गृहस्थों की संख्या अधिक थी। वे प्रायः विद्वान् होंगे अथवा जिज्ञासु होंगे। इस भाँति यदि उसके आदेशात्मक होने की आवश्यकता थी तो क्या व्यवहार-धर्म पर्याप्त विषय न था? क्या उस बारे में जो चाहिए वह सब हो चुका? और यदि 'चाहिए' से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है तो वह गवेषणात्मक और क्यों नहीं हो सका?

मैं यह जानना चाहता हूँ कि किस आन्तरिक प्रेरणा के कारण यह अनिवार्य होता है कि निष्फल आलोचना की जाय?

न समझा जाय कि आज के साधुओं अथवा साधु-संस्था से मेरे मन को तृप्ति है; पर जब तक उनकी सेवा के द्वारा उनका विश्वास सम्पादन मैं नहीं करता तब तक किस मुँह से मैं अपने को छोड़कर उनको दोष

कैसे आगे बढ़ सकता हूँ ? सार्वजनिक रूप में आलोचक मुझे बनना है तो मैं क्यों न अपना ही आलोचक बनूँ ? यों शुद्ध तत्त्वालोचक बनने की मुझे सुविधा हर समय है ही—मैं जीवन-आलोचक, यानी साहित्यिक बनूँ।

पंडित जी, कृपया डाक्टर और मरीज़ और इस तरह की और बातें न कीजिएगा। डाक्टर क्या फोड़े के नश्तर न लगाए ?—आदि-आदि तर्क और उदाहरण सुनते-कहते हर समझदार आदमी का जी पक चुका है। वैसे अनगिनत उदाहरणों के उलट-फेर आप दे सकते हैं, अन्य भी दे सकता है। लेकिन मुझे रह-रहकर अचरज होता है कि क्या डाक्टर के लिए यह आवश्यक नहीं है कि या तो समाज द्वारा वह इस तरह के कामों के लिए आग्रहपूर्वक अधिकारी चुना जाय, नहीं तो मरीज़ का विश्वास उस पर हो ? आज चारों ओर मरीज़ की चीर-फाड़ ख़ूब हो रही है, लेकिन क्या कभी प्रेम की वेदना के सर्टिफ़िकेट को भी डाक्टर से तलब किया जा सकता है या नहीं ?

महात्मा ''श्रीयुत''' के पत्र को ठीक ही जाँचा। पर प्रत्येक स्वाधीन चेता का उत्तर सहमति और असहमति में इसी प्रकार बँटा होगा। जो समाज से अपना नाता अनुभव करता है उसके उत्तर में आवेश भी होगा, क्योंकि आपके मूल व्याख्यान में भी आवेश था। समाज के प्रति नाता जितना घना होगा, आवेश उसी अनुपात में बढ़ सकता है। मत-भेद और आलोचना आवश्यक है क्योंकि मतों में हमेशा भेद होता है और प्रतिपादन का जवाब आलोचना होती है। और जिस अंश में आपके लेख में आकांक्षा और भावना का अंश है उससे असहमति का अवकाश नहीं है; क्योंकि प्रत्येक सच्चेता की भावनाएँ एक दिशा में चलती हैं।

सुधार मैं भी चाहता हूँ। कौन नहीं चाहता ? आप तीव्रता-पूर्वक चाहते हैं, मैं प्रार्थना-पूर्वक चाहता हूँ। प्रार्थना में तीव्रता से अधिक शक्ति और अधिक सक्रियता हो सकती और होती है।

पर अहंकृत-बुद्धि का आरोप उस भावना पर डाल दीजिए और आवेश उसमें मिल जाने दीजिए तो देखिएगा कि अच्छाई की जगह उसी से बुराई हो रही है। यह मैं नीति की दृष्टि से नहीं कहता, धर्म दृष्टि से कहता हूँ। धर्म की दृष्टि से चतुराई से अधिक खरापन और ईमानदारी मुझे प्रिय है। छलपूर्वक कोई मीठा हो, यह पाप है। पर निश्छल होकर कड़वा ही हुआ जा सकता है, यह मैं एक क्षण को भी नहीं मान सकता। अहंकार-नाश अथवा छल-नाश की कुछ त्रुटि ही है कि व्यक्ति कठोर भाषा बोलता या लिखता है।

और मैं अपनी इस प्रतीति की ओर भी आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि सेवा द्वारा जो अधिकार मिलता है वह सच्चा स्वत्व है। और आलोचना का अधिकार बहुत ही दायित्व-पूर्ण है।

आपके कार्यों का और आपके समाज का मूलाधार सर्व-धर्म-सम-भाव का सिद्धान्त है। लेकिन वह सिद्धान्त किसी विशेष अवसर पर याद रखने के लिए नहीं है न। वह तो यथाशक्य आठों पहर दिशा-दर्शक-यन्त्र की सतत-जागृत सुई की भाँति सामने रखने के लिए है न? तब जो मुनिधर्म को अपना धर्म मानता है उसके प्रति सम-भाव लागू क्यों नहीं है? उससे क्या अपना प्रेम खींच लें? उसे क्या हम उपहास्य बना सकें?

कहा जा सकेगा कि यों तो जड़ता को जिसने धर्म माना है उसकी जड़ता के परिहार होने का भी यत्न न हो सकेगा। हाँ, बेशक न हो सकेगा।

पत्थर की जड़ता हम इस प्रकार तो हरण कर सकते हैं कि आदर-भाव से और लगन के साथ उसे गढ़कर मूर्ति का रूप दें और अपनी श्रद्धा में उसे प्रतिष्ठित करें। इस प्रकार पत्थर को हम सजीव ही नहीं बना सकते, उसे देवता और परमात्मा बना सकते हैं।

अन्यथा उसकी जड़ता से रुष्ट होकर ज़ोर से पीटने लगने से हम उसे तो धूल और अपने को निष्फल ही बना सकते हैं और कुछ नहीं

कर सकते।

जड़ को पीटने का यह आलाच बचपन का द्योतक है।

आज सर्व-धर्म-समभाव कहकर भी जीवन में यह विकृत जो रह ही जाती है। गिने-गिनाए धर्मों के नाम पर जो बड़े-बड़े समुदाय हैं उनके प्रति सहिष्णु रहकर मानो अपने बीच में छोटे-छोटे समुदाय खड़े करके असहिष्णु हम हो सकते हैं। यह सर्व-धर्म-समभाव की विजय नहीं है, विडम्बना है।

आज अपनी बुद्धिमत्ता में मुझे कितना आभास लगता है कि अमुक को प्रतिक्रियावादी, भीरु और पाखण्डी कह दूँ? मैं यह कर सकता हूँ। सभी यह कर सकते हैं। लेकिन जो यह करता है वह अपना सर्व-धर्म-समभाव अखंडित नहीं मान सकता। ऐसा मानना आत्म-प्रतारणा करना है।

समाज के संघटन और विधान की ओर दृष्टि रखकर अगर मैं साधु-संस्था के बारे में कहूँ तो यह मानकर भी कि आज अवस्था बहुत दूषित है मुझे कहना होगा कि धर्म-नीति का स्वाभाविक प्रवाह त्यागी से गृहस्थी की ओर, विरागी से व्यवहारी की ओर है। गृहस्थी और व्यवहारी असहयोग कर सकता है, अपनी गृहस्थ-वृत्ति में आग्रही हो सकता है; परन्तु विरागी त्यागी से आदेश पा ही सकता है, उसे आदेश दे नहीं सकता। कुछ साधु गृहस्थी से गए-बीते हो सकते हैं। तर्क के लिए मैं मान लूँ कि अधिक साधु ऐसे हैं। फिर भी जीवन का अनुक्रम वही है। गृहस्थ गार्हस्थ्य व्यापारों के द्वारा परिमित है, साधु निर्बन्ध है। गृहस्थ, आज की परिस्थितियों को देखते हुए, अधिक-से-अधिक राष्ट्र-धर्मी हो सकता है; पर साधु सदा से विश्व का नागरिक है।

दीजिए आप दो, दस, पचास, सौ, साधुओं की भ्रष्टता के उदाहरण। चाहें तो अधिक भी दीजिए। लेकिन मैं न मानूँगा कि गृहस्थ-समाज और साधु व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों में साधु दाता और समाज भोक्ता नहीं है। साधु आत्मदानी है—आत्म-दान के नियम

कब किसने बाँधे हैं ? ईसा को कौन सूली चढ़ने से रोक सका ? लोक-धर्म यही कर सका कि ईसा को सूली चढ़ावे और उसके बलिदान का पाप और पुण्य दोनों स्वीकार करे।

आप कहेंगे, यह आपने भी कहा है। हाँ, कहा है। पर आपने उस प्राणमय सिद्धान्त में अपने मन्तव्य का इस प्रकार रंग भरा है कि वह सप्राणता अत्यन्त भ्रामक हो गई है।

धर्म के मामले में अधीर न हुआ जा सकेगा। कच्चा युवक धैर्य खोए तो कुछ अनुकूलता भी दीख सकती है। पर जो धर्म-नीति की चर्चा में प्रकाश देना चाहता है, अधीरता का उसके पास क्या काम ? समय अभी समाप्त नहीं होने वाला है। अनन्त भविष्य पड़ा है। सदियों पर सदियाँ आवेंगी। उन तमाम शताब्दियों में भी करने को बहुत-कुछ रह जायगा। हम निश्चय रखें कि पाप तुर्त-फुर्त ख़तम हो जाने वाला नहीं है। वह तो जीता ही जायगा। यह नहीं कि हम उससे हार मान लें। पर याद रक्खें, सत्-असत् की लड़ाई तब तक रहेगी जब तक सृष्टि रहेगी। सत् पक्ष की पहचान शान्ति है। असत् पक्ष अधीर होता है, इसीसे दुर्बल है। इसी में उसकी हार है। द्वेष को प्रेम से जीतना है। किन्तु जीतने की अभिलाषा में क्या वह प्रेम अपनी प्रकृति से चूक जाय ? यह तो उसकी हार हुई।

पंडितजी, मैं यही कहता हूँ। लड़िये। युद्ध ही जीवन की थाती है। पर युद्ध में प्रेम के बल से दृढ़ रहिए। तनिक भी रोष के बल में कठोर मत हूजिए। आप योद्धा है। मैं आपकी ओर आशा से देखता हूँ। सत् की सेना में सिपाही हैं कितने ? पर सत् का बल संख्या में नहीं है। पर आप जैसा सत्प्राण वीर शत्रु (अर्थात्, आवेश, रोष) के हाथों दब कर उधर जा मिलेगा तो साथी सिपाहियों को कैसी निराशा होगी। कृपया इसका ध्यान रखिए।

सत्य की सेना का कोई नाम नहीं है। कृपया कभी भूल न कीजिए कि सत्य-समाज के सदस्य ही वह सेना हैं नहीं, नहीं। कट्टर समभे

जाने वाले लोगों में भी ऐसे व्यक्ति होंगे, सत्य-समाज में भी हो सकते हैं, साधुओं में भी हैं। कहाँ वे नहीं है। पर किसी सिद्धान्तवादी पार्टी में वे कभी जुड़े हैं, जो अब जुड़ेंगे ? बहुत दल हैं, बहुत सम्प्रदाय हैं, बहुत पन्थ हैं। पर धर्मतत्त्व तो एक ही है। वह आत्मा से पाना होता है, पार्टी से नहीं। और हर दल, हर सम्प्रदाय और हर पन्थ के हरेक व्यक्ति के भीतर आत्मा है। आप चाहते हैं सुधार ? आप चाहते हैं युद्ध ? आप चाहते हैं शान्ति और सुख और कल्याण ?—तो आप हरेक के भीतर की उसी आत्मा को अपनी आत्मा की सुलग से जगाइये। वह जगी कि जग जागा रक्खा है। यही मार्ग है। यही धर्म है।

मैं बहुत लिख गया, पंडित जी। इतना लिखूँगा, ऐसा स्वप्न न था। क्षमा कर दें। मुझे अन्यथा न समझें ! मैं आपका ही हूँ।—